योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री रामनवमी जन्मोत्सव विशेषांक

वर्ष : 57 ; अंक : 02
मई 2024

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई - 283202 (आगरा) उ.प्र.

प्रकाशन तिथि : 01.05.2024

मूल्य - एक प्रति : 25/- , द्विवार्षिक : 400/-

अमृतकण

कैलास शिखरे रम्ये गौरी पृच्छति शंकरम्
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं कथयस्व महेश्वरः।।

पवित्र कैलाश शिखर पर श्री पार्वती जी शंकर से पूछती हैं कि मुझे आप गुह्यात्गुह्यतर ज्ञान का उपदेश दें।

■■■

कैलासे शोभनतरे उमा पृच्छति शंकरम्
अत्यन्तसुगमं ह्याशुमभुक्तिं कथय मे प्रभो।।

अति शोभनतर कैलाश पर्वत पर भगवती उमा भगवान शंकर से पूछती हैं कि शीघ्र मुक्ति देने वाला उपाय आप मुझे बतायें।

■■■

कैलासेऽलिशुभे शैले गौरी पृच्छति शंकरम्
मुक्ति मार्गंतु मेब्रूहि शीघ्रसिद्धिा करं प्रभो।।

अति शोभित कैलाश पर जगदम्बा गौरी भगवान शंकर से पूछती हैं कि शीघ्र सिद्धि दाता मुक्ति मार्ग आप मुझसे कहें।

■■■

मुक्तस्यानुभवं विद्धि शीघ्रं मतस्तु पार्वतिः
सद्ज्ञानेन भवेन्मुक्तिः पापिनामपि साधिके।।

भगवान शंकर कहते हैं कि हे पार्वती सद्ज्ञान के द्वारा पापियों को भी मुक्ति हो जाती है।

■■■

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोपि साधकः।।

भगवान शंकर कहते हैं कि हे प्रिये अब हम मुक्तो के अनुभव कहते हैं, जिसको जान कर पापी साधक भी मुक्ति पा जाते हैं।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :— शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 57 मई 2024 अंक : 02

समुद्रस्य यथातोयं क्षीरे क्षीरं जले जलम्
भिन्ने कुम्भे यथाकाशः तथात्मा परमात्मनि

जिस प्रकार समुंद्र का जल, दूध में दूध जल में जल है। भिन्न भिन्न कुम्भों में जैसे आकाश है, इसीप्रकार परमात्मा में आत्मा हैं अर्थात् जैसे घट फूटने पर भीतर का आकाश महाकाश में मिलकर एक हो जाता है उसी जीवात्मा भी परमात्मा में मिलकर एक हो जाता हैं।

●●●

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- *योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	5
3.	श्रीमद्भागवत में योग परिचर्चा- *डॉ. विजय सिंह*	9
4.	तपः पूता केतकी- *सुश्री उमा शर्मा*	12
5.	योग विद्या का रहस्य- *श्री शिव कुमार शास्त्री*	15
6.	जप योग और गायत्री मंत्र- *श्री तेजवीर सिंह जैसवाल*	17
7.	वेदों एवं उपनिषदों में योगाचर्या- *श्री केशव उपाध्याय*	20
8.	यौगिक-चक्र और उनकी सत्यता- *श्री बोरलाल*	24
9.	पाप और पुण्य- *श्री स्वामी नाथ जी पाण्डेय*	27
10.	सूर्य उपासना से कुष्टि निवृत्ति- *श्री कृष्ण कुमार पांडे*	33
11.	संस्कार शक्ति व साधना शक्ति- *कु. रुक्मिणी वर्मा*	35

एक प्रति	: रु. 25.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 250.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1500.00

हमारा विशेष लेख–

योगमार्ग और विश्व–कल्याण

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

विश्व–कल्याण का उद्‌घोष आज चारों ओर सुनाई देता है। चाहे कोई सामाजिक संस्था हो या धार्मिक लोक–कल्याण ही अपनी स्थापना का उद्देश्य बताती हैं। यही उद्देश्य लेकर समूचे भूमण्डल के देशों की सरकारें भी अपने–अपने क्षेत्रों में कार्यरत हैं। यहाँ तक कि भूमण्डलीय सरकारों का जो एक मिला–जुला संगठन बना है उसने भी अपना मुख्य उद्देश्य विश्व–कल्याण ही घोषित किया है और विश्व– कल्याण अथवा मानव–सेवा के व्यापक लक्ष्य को सामने रखकर ही इस भूमण्डलीय सरकारों के संयुक्त विश्व संघ जिसे अँग्रेजी में यूनाइटेड नेशनन्स भी कहा जाता है, की ओर से विविध प्रकार की परियोजनायें भी चलाई जाती हैं। युद्ध विराम आदि के आदेश देकर यही संगठन युद्ध–रत राष्ट्रों को रोककर उन्हें इस बात के लिए विवश करता है कि लड़ने वाले राष्ट्र अपने विवाद मिल–बैठकर आपसी वार्ता द्वारा तय करें। क्योंकि युद्ध निरपराध मानवों की हत्या करके विश्व का अकल्याण ही करता है। ऋषि, मुनि और साधु–सन्तों के जीवन का उद्देश्य भी विश्व–कल्याण रहता है और इसी विश्व–कल्याण के लिए वे सर्वस्व त्यागकर विरक्त भावसे संन्यास आदि आश्रमों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी विश्व–कल्याण की भावना रखते हैं किन्तु विश्व के मानव के कल्याण करने का कौन सा मार्ग है अथवा इस साध्य को प्राप्त करने का साधन क्या है, यह विचारणीय है। भले ही इसका समाधान कोई किसी प्रकार से करे, उसे इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्व–कल्याण की मूलभूत इकाई मानव–कल्याण ही है। अतः मानव–कल्याण की योजना ही विश्व–कल्याण की योजना हो सकती है। जब इस तथ्य को हम स्वीकार कर लेते हैं तब यह प्रश्न सामने आता है कि मानव के कल्याण का उसको शाश्वत सुख, शान्ति प्राप्त कराने का मार्ग कौनसा है ? दर्शनकारों और ऋषि–मुनियों ने इसका उत्तर दिया है– धर्मो रक्षित रक्षितः। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसको रक्षित रखता है। यानी जो धर्म का जीवन व्यतीत करता है धार्मिक मर्यादाओं का परिपालन जिसके जीवन का लक्ष्य होता है वही निःश्रेयस और अभ्युदय को प्राप्त कर पाता है और अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति जिस साधन अथवा आचरण से हो सके वही धर्म है। जैसा कि दर्शनकार ने कहा है–

यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिस्य धर्मः

अब आइए हम इस प्रश्न पर विचार करें कि अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने का मार्ग क्या है? निश्चित रूप से इसका उत्तर हमें पातंजलि योग दर्शन देता है। भगवान पतंजलि ने मानव वृत्तियों का गहराई से अध्ययन करके उन्हें मर्यादित और धर्मानुकूल बनाने के लिए यम और नियमों के परिपालन की जो पहली सीढ़ी बताई है वही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का मार्ग है यदि मनुष्य यम और नियम का जैसा कि योग दर्शन में वर्णित है, दृढ़ता से पालन करने

लगे तो समूचे मानव समाज और विश्व का कल्याण हो सकता है। विश्व–कल्याण की आधार शिला यदि रखनी है तो अहिंसा, सत्य,सन्तोष, अपरिग्रह, शोच, इन्द्रियनिग्रह आदि भावनाओं की परिपुष्टि जन–जन में करनी होगी और यही शिक्षा देता है योग दर्शन भी।

अतः योग मार्ग ही एक मात्र ऐसा मार्ग है जिससे विश्व कल्याण बिना किसी वर्ग और देश की सीमाओं के प्रतिबंध के निश्चित रूप से हो सकता है। न अन्य पन्था विद्यते अयनाय के समान यहाँ योग मार्ग की मान्यताओं के मानने के सिवाय विश्व–कल्याण का कोई अन्य मार्ग है ही नहीं। यह प्रसन्नता और हर्ष का विषय है कि विश्व में अब सुख और शान्ति की स्थापना हेतु योग केन्द्रों की बहुधा स्थापना होने लगी है। भारत में जगह–जगह अनेक योग प्रचारक संस्थान खुले हुए हैं और यह सभी अपनी– अपनी क्षमता के अनुसार योग प्रचार द्वारा विश्व–कल्याण के कार्य में लगे हुए हैं। स्कूल और डिग्री कॉलेजों में योग की कक्षायें चलाई जाएं यह प्रश्न भी सरकारों के विचाराधीन है। बनारस विश्व विद्यालय ने भी हाल ही योग पाठ्य क्रम को स्वीकृत करते हुए उसके प्रशिक्षण की एक उपयोगी योजना बना कर उसे अमली रूप देने का निश्चय किया है। विश्व –कल्याण अथवा मानव समाज के कल्याण के लिए यह सब प्रयास अभिनन्दनीय हैं। विश्व में योग मार्ग पर चलने का संकल्प लेने वालों की संख्या जैसे–जैसे बढ़ती जाएगी वैसे ही वैसे विश्व कल्याण का स्वरूप स्पष्ट रूपेण हमारे सामने उजागर होता चला आयेगा। बिना योग मार्ग को अपनाये हम विश्व–कल्याण का लक्ष्य प्राप्त ही नहीं कर सकते। योगी ही स्वयं एश्वर्यवान होकर दूसरों को एश्वर्यवान बना सकता है। अतः योग धर्म अनिवार्यतः हमारे सबके जीवन का मुख्य अंग होना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी संसार ताप से झुलसे हुए मानव का कल्याण होगा, यही हमारा अपना अभिमत है।

सम्पादकीय-

अध्यात्म योग-अपरोक्षानुभूति का विषय है।

आचार्य (डा०) दासलाल शर्मा

भौतिक विज्ञान की भाँति योग विद्या का जीवन में प्रयोग किया जाता है। इसका हम अपने जीवन में प्रयोग करके इसका दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति रूप लाभ ले सकते हैं। इसका जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इस कारण से ही विद्वानों ने योग को (**SCIENCE OF SOUL**) कहा है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म विषय है इससे सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं होती। गीता में भी भगवान ने नवें अध्याय में इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुये कहा है यह राजविद्या है अर्थात् सभी विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है इसलिये यह राजविद्या है । इसका जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है इसलिये ' प्रत्यक्षावगमम् ' कहा है। दूसरी सबसे बड़ी बात है योग अविनाशी है अत: इसे 'अव्यय' शब्द से अभिहित किया गया है। सभी दर्शनशास्त्रों में योग ही सर्वाधिक प्रत्यक्षीकरण का विषय है। योग एवं वेदान्त दोनों ही शास्त्र अनुभूति के शास्त्र हैं। कुछ लोग वेदान्त दर्शन को ज्यादा श्रेष्ठ मानते हैं योग को वेदान्त दर्शन से हल्का मानते हैं। इस विषय में मुझे एक घटना याद आ रही है जो श्री गुरुदेव से सम्बन्धित है। जिन दिनों गुरुदेव श्री योग साधन आश्रम ऋषिकेश रहा करते थे उन दिनों उनका परिचय दर्शन-महाविद्यालय के प्राचार्य से हुआ। इन्होंने आचार्य जी से कहा- हमारी एक मासिक योग से सम्बन्धित पत्रिका निकलती है उसमें यदि कोई लेख छपने के लिए दें तो लोगों को लाभ होगा। उन्होंने बड़े रूखे शब्दों में कहा योग पर क्या लिखना है वेदान्त पर लिखना होता तो लिखते योग में लिखने को कुछ विशेष है नहीं। श्री गुरुदेव जी उनकी बातों को सुनकर मन ही मन सोचने लगे कि इतने बड़े विद्वान को भी योग के सिद्धान्तों में रुचि नहीं है। शायद यह इन सिद्धान्तों के विषय में जानते ही नहीं हैं। अस्तु ! गुरुदेव योग को ही सब दर्शनों का साध्य विषय मानते थे। वस्तुत: वेदान्त और योग दोनों का लक्ष्य एक ही है। योग कैवल्य को लक्ष्य मानता है जिससे सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति हो जाती है और योगी अपने लक्ष्य आत्मा की स्वरूप स्थिति को पा जाता है जो जन्म-मृत्यु के दायरे से उसे सदा के लिये छुड़ा देता है। वेदान्त का लक्ष्य अद्वैत-सिद्धि है। द्वैत की पूर्णतया समाप्ति।

महर्षि कपिल का सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। गीता में भगवान कहते हैं-

लोकेऽस्मिन द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ

ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्।

हे अर्जुन ! मैंने प्राचीन काल में ही दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन किया है। वे हैं सांख्य वालों का ज्ञान योग तथा योगियों का कर्म योग ये दो प्रकार की निष्ठा है। यहाँ पर सांख्य वालों का जो ज्ञान योग बताया गया है यह ज्ञान योग ही बाद में वेदान्त के रूप में

प्रचलित हुआ है। कर्मयोग तो योगियों की निष्ठा है ही। वैसे भी दर्शन शास्त्र में सांख्य और योग को एक ही विषय में माना जाता है। सांख्य सिद्धान्त परक शास्त्र है और योग क्रिया परक शास्त्र है।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति।

(गीता 5/5)

सांख्य और योग को जो एक ही मानता है वह ही यथार्थ जानता है। जबकि बाल–बुद्धि वाले लोग सांख्य और योग को अलग–अलग मानते हैं। ऋषिकेश में शिवानन्द आश्रम से एक मासिक पत्रिका निकलती थी। उसका नाम था योग वेदान्त। इसमें योग और वेदान्त के सिद्धान्तों का बड़ा सुन्दर सामंजस्य देखने को मिलता है।
उपनिषदों में ज्ञान और कर्म दोनों को ही मुक्ति का साधन माना है। वेद वचन है–

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

अविद्या अर्थात् कर्म के द्वारा मृत्यु को लाँघकर विद्या से अमृतपद या मोक्ष की प्राप्ति होती है। आगे भी लेख है जो इस बात को और पुष्ट करता है।

न केवलेन योगेन प्राप्यते परमं पदम्।

ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गप्रदायकम्।।

केवल योग से ही परम पद की प्राप्ति नहीं होती है ज्ञान भी मुक्ति में सहायक होता है। आगे भी कहा है–

समाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां-गति।

तथैव ज्ञानकर्मभ्यां लभते परमं पदम्।।

अर्थात् जिस प्रकार से पक्षी दोनों पंखों की मदद से उड़ने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार से ज्ञान एवं कर्म से परम पद की प्राप्ति होती है।

योग एवं वेदान्त में दुःखों का मूल कारण अविद्या ही माना है। इसी का समूलोन्मूलन करना दोनों का लक्ष्य है। अविद्या का स्वरूप एक जैसा दोनों का मान्य है। अविद्या को वेदान्त में माया नाम से कहा जाता है। अविद्या के योग दर्शन में चार पर्व बताये हैं। पहला है अनित्य वस्तु को नित्य समझ लेना, दूसरा है अपवित्र को पवित्र मान लेना, तीसरा है दुःख को ही सुख समझना। चौथा है अनात्म वस्तु को आत्मा समझ लेना। यह अविद्या का स्वरूप है जो दोनों को मान्य है। योग का सूत्र है–

अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्म-ख्यातिरविद्या।

(योग सूत्र 2/5)

अविद्यादि पञ्च क्लेश ही विपर्यय कहलाते हैं–

क्लेशाः इति पंच विपर्यया:। (व्यासभाष्य 2/3)

क्लेश से कर्म तथा पुनः कर्मफल की व्यवस्था के कारण यह परम्परा चली आ रही है। यही संसार चक्र है।

योग साधना में वैराग्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है इसके बिना वृत्तियों का निरोध असंभव है। यह वैराग्य भी दो प्रकार का है। पहला है–

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

(यो. द. 1/15)

अर्थात् इस लोक के सुन्दर भोग्य पदार्थ खानपान, स्त्री तथा अन्य वैभव की आसक्ति का त्याग अपन वैराग्य है। वेद शास्त्र तथा पुराणें में वर्णित स्वर्गीय भोगों के प्रति भी अनासक्ति का होना इसी वैराग्य का अंग है। दूसरा पर – वैराग्य है। विवेक–ख्याति से उत्पन्न ज्ञान को ही हेय मानकर धर्ममेघ समाधि को पाना तथा असम्प्रज्ञात में आरूढ़ होना इस पर–वैराग्य का लक्ष्य है। इसी से ही निर्बीज समाधि की परिपक्व अवस्था मिलती है। वेदान्त भी वैराग्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारता है। नश्वर पदार्थों के प्रति पूर्णरूप से अनासक्त रहना वेदान्त को अभीष्ट है। अनात्म वस्तु में राग का अभाव ही वैराग्य को पुष्ट करता है। वेदान्त में माया का वर्णन अधिक हुआ है। इसे योग में प्रकृति कहते हैं। विवर्तवाद माया का ही रूप है। यही जग़त का मिथ्यात्व है। योग में भी ' विपर्यय ' को मिथ्या ज्ञान कहा गया है।

' विपर्ययो मिथ्याज्ञानं अतद्रूप-प्रतिष्ठितम् '

– (यो. द. 1/8)

अर्थात् मिथ्याज्ञान उसे कहते हैं जो वस्तु जैसा मालूम पड़ रहा है वह वैसा नहीं होता है। अज्ञानता से रज्जू में सर्प का बोध होना ही मिथ्या ज्ञान है। रज्जू में सर्प का भान होता है किन्तु प्रकाश के प्रकट होने पर वह रज्जू ही होता है सर्प नहीं। यह भी योग में चित्त की एक वृत्ति है जो हेय है, निराकरणीय है। योग शास्त्र में चित्त की असंख्य वृत्तियों को रोकने का उपदेश हुआ है। इन वृत्तियों को प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के नाम से पाँच श्रेणियों में बाँटा है। इन पाँचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद बन जाते हैं। ज्ञान, वैराग्य, विवेक, ख्याति की ओर ले जाने वाली वृत्ति है जो उपादेया है। उपकारक है लाभकारी है।

वेदान्त मतावलम्बी विचार पर ज्यादा जोर देते हैं उनका कहना है कि विचार ही मुख्य साधना है किन्तु विचार कैसे किया जाये इस पर दो सूत्र दृष्टव्य है एक तो सूत्र है ' **आसीनःसम्भवात्** ' (ब्र.सू. 4/1/8), दूसरा सूत्र है ' **ध्यानाच्च** '।

पहले सूत्र के द्वारा बताया गया है कि उचित आसन में स्थिरता पूर्वक देर तक बैठने का अभ्यास किया जाये। दूसरा सूत्र है– **'ध्यानाच्च'** (ब्र.सू. 4/1/7) । अर्थात् स्थिर शरीर होकर के ध्येय का ध्यान करना चाहिये। यह दोनों सूत्र योग की प्रक्रिया को ही पुष्ट करते हैं। विचार भी धारणा का ही रूप है। जब तक एक ही प्रकार का विचार धारा प्रवाह से चल कर

ध्यान की दृढ़ अवस्था तक न पहुँच जाये तब तक अभीष्ट लाभ व विवेक ज्ञान नहीं हो पाता। इसे ही निधिध्यासन् कहा गया है।

समाधि लाभ का प्रत्यक्ष फल होता है चित्त का ध्येय में पूर्ण एकाकार होना तथा व्युत्थान में सिद्धियों का स्वतः प्रकट रहना। सिद्धियाँ आत्म–स्थिति की सूचना देती हैं। उपलब्धियों को बताती हैं साधना की। यह स्वतः ही प्रकट रहती हैं इनके लिए अलग से कुछ करना नहीं होता। कुछ वेदान्त वादी कहते हैं सिद्धियाँ कुछ नहीं होती हैं इनका कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु यह बात सही नहीं है। योग शास्त्र का लेख है – '**सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्ध एवलक्ष्येत्**'। योग शिखोपनिषद में कहा है। सिद्धियाँ जिस साधक में नहीं हैं वह तो बद्ध ही है बन्धन में ही है मुक्त नहीं है। सिद्धियों में फँसना नहीं चाहिये यह बात योग दर्शन में चेतावनी के साथ कह दिया गया है। अन्यथा पुनः संसार चक्र में योगी पड़ सकता है। इस प्रकार से यह समाधि की दशा में विघ्न होती हैं, किन्तु व्युत्थान की दशा में ये सिद्धियाँ स्वयं प्रकट रहती हैं योगी के मन के भाव परिणाम रूप में कार्य रूप में परिणत होती रहती हैं। योगी की इच्छा के अनुसार ही समस्त प्रकृति वर्तती रहती है। योगी के इच्छाओं की विघात नहीं होता है। योगी सर्व समर्थ होकर विचरण करता है। इन सिद्धियों में सर्वज्ञता नामक सिद्धि भी योगी को प्राप्त हो जाती है। सभी सिद्धान्त अपरोक्ष रूप में सामने होकर अर्थ को प्रकट करते रहते हैं। योगी आत्म–विकास के मार्ग पर चलता हुआ अन्त में निर्बीज समाधि को पा जाता है। जीते–जी मुक्त हो जाता है उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता है।

योग ही आध्यात्म–विद्या है, पराविद्या है। इसे ही ब्रह्म विद्या कहा गया है। योग से ही दिव्य दृष्टि पाकर योगी परम सत्य ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्रीमद्भागवत में योग परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

बारहवें स्कन्ध के छठे अध्याय में श्री सूत जी शौनकादि ऋषियों से कहत हैं। ऋषियों ! श्री शुकदेव जी समस्त चराचर जगत को अपनी आत्मा के रूप में अनुभव करते हैं तथा व्यवहार में सबसे समदृष्टि रखते हैं। राजा परीक्षित ! उनका सम्पूर्ण आदेश बड़ी एकाग्रता से सुना और उनके चरणों के तनिक निकट आकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे। राजा परीक्षित ने कहा– भगवन्! आप करुणा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। आपने मुझपर कृपा करके श्री हरि के स्वरूप और लीलाओं का वर्णन किया। अब मैं आपकी कृपा से कृतकृत्य हो गया हूँ। संसार के दुखों में दग्ध हो रहे प्राणियों के उपर महात्माओं का अनुग्रह होना आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो उनका स्वभाव ही है।

भगवन ! आपने मुझे अभय पदका, ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार करा दिया है। अब मैं परम शाँति रूप ब्रह्म में स्थित हूँ। अब मुझे तक्षक आदि किसी भी मृत्यु के कारण से भय नहीं है। मैं अभय हो गया हूँ। प्रभो ! अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं मौन हो जाऊँ और कामनाओं से रहित चित्त को परमात्मा के स्वरूप में विलीन करके अपने प्राण का त्याग कर दूँ। आपके द्वारा दिये ज्ञान और विज्ञान से मेरा अज्ञान सर्वदा के लिए नष्ट हो गया है। आपने भगवान् के परम कल्याणमय स्वरूप का मुझे साक्षात्कार करा दिया है।

भगवस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया।।

5.6.12

अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून।।

6.6.12

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम्।।

7.6.12

राजा ने ऐसा कहकर भगवान शुकदेव जी की बड़े प्रेम से पूजा किया। अब भगवान शुकदेव जी समागत त्यागी महात्माओं और भिक्षुओं के साथ परीक्षित से विदा लेकर वहाँ से चले गये। राजा परीक्षित अपने अन्तरात्मा को परमात्मा के चिन्तन में समाहित किया और ध्यान में लीन हो गये। उस समय उनका श्वास–प्रश्वास भी नहीं चलता था। वे ठूँठ वृक्ष के

समान जान पड़ते थे। अब वे ब्रह्म और आत्मा की एकरूपता महायोग में स्थित होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये।

तक्षक के डसने के पहले ही राजर्षि परीक्षित ब्रह्म में स्थित हो चुके थे। तक्षक के विष की आग उनका शरीर भस्म कर दिया। देवताओं के वाद्य अपने आप बज उठे। गन्धर्व और अप्सरायें गान करने लगीं। देवता साधु साधु के नारों के साथ पुष्पों की वर्षा करने लगे।

ब्रह्मभूतस्य राजर्षे र्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्।।

13.6.12

देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः।।

15.6.12

आगे परीक्षित पुत्र जनमेजय ने सर्प राज की प्रज्जवलित अग्नि में सापों का हवन करवाने लगा। मंत्र बल से बड़े–बड़े सर्प खिंच कर अग्नि में गरम होने लगे। तक्षक डरकर इन्द्र की शरण में जाकर उनके सिंघासन को लपेट अभी स्थिर होना ही चाह रहा था कि मंत्रविदों ने राजा जनमेजय के आग्रह पर संकल्प लिया– रे तक्षक ! तू इन्द्र के साथ इस अग्नि कुण्ड में गिर जा। इस आकर्षण मंत्र के बल से इन्द्र स्वर्ग लोक से विचलित हो गये। वे घबड़ा गये। देवगुरु बृहस्पति ने देखा इन्द्र विमान एवं तक्षक सहित अग्नि कुण्ड की ओर गिर रहे हैं। तब उन्होंने राजा जनमेजय से कहा – नरेन्द्र ! सर्पराज तक्षक को मार डालना आपके योग्य काम नहीं है। यह अमृत पी चुका है। इसलिए अजर–अमर है। राजन कर्म के अतिरिक्त और कोई भी किसी को सुख दुःख नहीं दे सकता। तुम इस अभिचार यज्ञ को बन्द कर दो इसका फल ठीक नहीं है।' आपकी आज्ञा शिरोधार्य ' है कहकर जनमेजय ने सर्प–सत्र बन्दकर दिया।

सूत जी ने कहा– शौनक जी ! इस क्षणभंगुर शरीर में अहंता–ममता करके किसी प्राणी से कभी वैर नहीं करना चाहिये। भगवान श्री कृष्ण का ज्ञान अनन्त है। उन्हीं के चरण कमलों के ध्यान से मैं ने इस श्री मद्‌भागवत महापुराण का अध्ययन किया है। मैं अब उन्हीं को नमस्कार करके यह पुराण समाप्त करता हूँ।

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यद्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम्।।

35.6.12

शौनक जी ने पूछा– साधुशिरोमणि सूत जी ! वेदों का विभाजन कितने प्रकार से किया गया यह बात आप कृपा करके हमें सुनाइये। सूत जी ने कहा– ब्रह्मा जी पूर्वसृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकाग्र चित्त हुये। उस समय उन्हें एक अत्यन्त विलक्षण अनाहत

नादं का अनुभव हुआ। जब साधक अपनी मनोवृत्तियों को रोक लेता है तब उसे भी उस अनाहत नाद का अनुभव होता है।

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

हृद्याकाशादभुन्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते।।

37.6.12

योगी उसी अनाहत नाद की उपासना करते हैं और उसके प्रभाव से अन्तःकरण के द्रव्य (अधिभूत), क्रिया (अध्यात्म) और कारक (अधिदैव) रूप मल नष्ट करके मोक्ष प्राप्त कर संसार चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।

द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्।।

38.6.12

इसी नाद से ॐ कार प्रकट हुआ है। इसी के शक्ति से अव्यक्त प्रकृति व्यक्त रूप में परिणत होती है। यह स्वयं प्रकाश परमात्मस्वरूप है। ॐकार के द्वारा ही ब्रह्म का बोध होता है। समस्त अर्थों को प्रकाशित करने वाले स्फोट तत्व को जो सुनता है और सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थाओं में सबके अभाव को भी जानता है, वही परमात्मा का विशुद्ध स्वरूप है। वही ॐ कार हृदयाकाश में प्रकट होकर वेदरूपा वाणी को अभिव्यक्त करता है। परब्रह्म का साक्षात् वाचक ॐ कार है। सम्पूर्ण मंत्र, उपनिषद और वेदों का सनातन बीज है

ब्रह्मा जी ने चार वेद प्रकट किये और मरीच आदि को वेदों की शिक्षा दी। वे अपने पुत्रों को अध्ययन कराया। द्वापर के अन्त में ऋषियों ने देखा कि काल के प्रभाव से लोगों की आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो गई है। तब उन्होंने वेदों के अनेकों विभाग कर दिये। महामति भगवान व्यासदेव ने मंत्र समुदाय में से भिन्न–भिन्न प्रकरणों के अनुसार मंत्रों का संग्रह करके उनसे ऋग, यजुः, साम और अथर्व– ये चार संहितायें बनाई। अपने चार शिष्यों को बुलाकार पैल को 'बह्वृच ', दूसरी 'निगद' वैशम्पायन, तीसरी 'छान्दोग ' जैमनी को तथा सुमन्त को 'अथर्वाङ्गिरस संहिता ' का अध्ययन कराया। आगे इनके शिष्य–प्रशिष्यों ने और भी शाखायें वेदाध्ययन की फैलायीं।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

तपः पूता केतकी

स. श्री उमा शर्मा

परम सती सुकला के परम पातिव्रत्य की महिमा का वर्णन गतांक में किया गया था। प्रस्तुत लेख में सांसारिक बन्धनों का त्याग करके किस प्रकार से एक कन्या तपस्या के बल से क्या कर सकती है, इसका उल्लेख करने का प्रयास कर रही हूँ।

गोस्वामी तुलसी दास जी ने "**श्री रामचरित मानस**" में तप के बारे में लिखा है:–

तपबल रचइ प्रपंच विधाता।

तपबल विष्णु सकल जग त्राता।।

तपबल शंभु करइ संहारा।

तपबल शेष धरहिं महि भारा।।

तप आधार सब सृष्टि भवानी।

करइ जाइ तप अस जिय जानी।।

अर्थात् तप बल से ही ईश्वर इस सृष्टि की रचना करता है, तप से ही भगवान विष्णु सारे संसार का पालन करते हैं, तप बल से ही भगवान शंकर संहार करते हैं, तप बल से ही शेष नाग पृथ्वी को अपने शरीर पर धारण करते हैं और तप पर ही यह सम्पूर्ण सृष्टि आधारित है।

हमारे शास्त्र भी कहते हैं कि–

" ब्रह्मचर्येण तपसः देवामृत्युमुपाघ्नत् "

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के बल से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया। ब्रह्मचर्य और तप दो शब्द भिन्न – भिन्न मालूम पड़ते हैं। पर वस्तुतः ब्रह्मचर्य का पालन करना भी महान तप ही कहलाता है। योगदर्शन में भगवान पतंजलिदेव तपका लक्षण बताते हुए कहते हैं–

" द्वन्द्व सहनं तपः "

अर्थात्– सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि के जोड़े को सहन करना ही तप है अतः जहाँ भी द्वन्द्व सहन का विषय आयेगा अवश्य लागू हो जायेगा। ब्रह्मचर्य धारणा करने में इन्द्रियों के वेगों को रोक कर अपने वश में रखना महान् तप है।

पढ़िये– प्रजापति दक्ष की कन्या थी केतकी। वह कन्या रूप की दृष्टि से गुण की, शील की, आचार की, तप की मूर्तिमती लक्ष्मी ही थी। वह स्वभावतः ब्रह्मचारिणी ही रही। इसने सांसारिक बन्धनों को त्याग कर अपने माता पिता से आज्ञा ले, हिमालय की चोटियों

पर जाकर घोर तपस्या आरम्भ कर दी। तपस्या करते–करते एक बार साक्षात् भगवती गाय के रूप में उसके पास आई किन्तु केतकी ने उसकी उपेक्षा की। तब गाय रूपिणी भगवती ने प्रगट होकर कहा–

" केतकी तुझे कुमारी रहने का बड़ा गर्व हो गया है, तेरे इस गर्व का नाश करने के लिए ही मैं आई हूँ, तुझे शाप देती हूँ कि तू पृथ्वी पर नारी के रूप में जन्म लेकर पाँच पतियों की पत्नी बनेगी। शाप सुनकर केतकी को हार्दिक दु:ख हुआ उसने दीन होकर आर्त स्वर से भगवती माँ से क्षमा प्रार्थना की। करुणा की मूर्ति दयामयी माँ भगवती ने कहा– ' बेटी ! रो मत, तेरे द्वारा भगवान का कार्य सिद्ध होगा। तू भगवान को प्रिय है। अत: प्रसन्नता से उनका कार्य कर। पाँच स्वामी होने पर भी तेरा धर्म अटल रहेगा और तू जगत में सती शिरोमणि मानी जायेगी। जगत तेरी पूजा करेगा। तेरा यश अक्षय और तेरा नाम स्मरणीय रहेगा। ' इस प्रकार पवित्र वरदान देकर भगवती अन्तर्धान हो गयीं।

तपस्विनी केतकी का मन स्थिर व शान्त नहीं हुआ। वह इस बात से बड़ी दुखी थी कि मुझे तपोभूमि छोड़कर मृत्युलोक में जाना पड़ेगा वह इधर–उधर रोती–फिरती थी। मन उसका अत्यन्त बेचैन था।

एक दिन उसने गंगा जी में प्रवेश किया, देवमाया से उसके आंसुओं की हरेक बूँद जल के साथ मिलकर एक–एक दिव्य–स्वर्ण कमल बनने लगी। यह केतकी इस बात को बिल्कुल भी नहीं जानती थी। पवित्र मन्दाकिनी के जल में बहते हुए वे स्वर्ण–कमल स्वर्ग की ओर चले गये।

उधर मन्दाकिनी के किनारे देवराज इन्द्र, धर्म, वायु देवता अश्विनी कुमार स्वर्ग को जा रहे थे। स्वर्ण–कमलों की अत्यन्त मधुर और दिव्य गन्ध से उनको बड़ा सुख प्राप्त हुआ। मन्दाकिनी में बहते हुए इन कमलों को देख इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और यह पुष्प कहाँ से आते हैं, इस बात का पता लगाने का विचार करने लगे।

सर्वप्रथम इन स्वर्णकमलों का पता लगाने धर्मराज गये, किन्तु वे लौटे नहीं, तब वायुदेव गये और उसके बाद दोनों अश्वनीकुमार भी चले गये। जब इन लोगों में से कोई भी नहीं लौटा तब आश्चर्यचकित होकर देवराज भी खोज करने चले। चलते–चलते वे वहाँ पहुँच गये जहाँ पर मन्दाकिनी में केतकी खड़ी हुई थी। इन्द्र ने उसे देखकर उसका परिचय पूछा और उससे अपने साथ विवाह करने के लिए कहा।

इन्द्र देव की बात सुनकर केतकी को बड़ी व्यथा हुई। उसने कहा– " हे देवराज ! मैं जन्म से ही तपस्विनी हूँ। भगवान् शिव आशुतोष जी के चरणों की मुझ पर पूर्ण कृपा है। मेरे प्रति विवाह का प्रस्ताव करने से जैसे इससे पहले चार देवपुरूष कठोर दण्ड भोग रहे हैं, वैसे ही आपको भी भोगना होगा। आप चाहे देवराज हों या कोई और। मुझे भगवान शिव की कृपा से किसी की भी परवाह नहीं है।"

तपस्विनी केतकी की बात सुनकर देवराज इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने निर्भयता के साथ पुन: केतकी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखते हुए पहले आये हुए चारों देवताओं का पता पूछा। इन्द्र के पूछने पर केतकी ने कहा– ठीक है उन्हें देखना है तो मेरे साथ

चलो। इस प्रकार कहकर केतकी इन्द्रदेव को हिमालय पर ले गई। वहाँ पर एक योगेश्वर समाधिस्थ थे। केतकी ने दूर से ही उनको बताकर इन्द्र से कहा कि – " इन महात्मा से पूछिये कि वे कहाँ हैं ?"

देवराज इन्द्र ने उन योगिराज के पास जाकर धर्म, वायुदेवता, अश्विनीकुमार के विषय में पूछा, परन्तु समाधिस्थ महात्मा ने कोई भी उत्तर नहीं दिया। तब इन्द्र ने क्रोधित होकर कुछ कुवाच्य कहे। महात्मा की समाधि टूट गई और देखते देखते ही महात्मा त्रिशूल धारी महान् योगीश्वर भगवान् रुद्र के रूप में परिणत होकर गर्जते हुये बोले– तुम लोग बार–बार एक के बाद एक आकर मेरी आश्रिता इस आजीवन ब्रह्मचारिणी परम तपस्विनी देवी को क्यों सताते हो ? जाओ, पहले चारों को जो दण्ड दिया गया है, तुम भी उसी को भोगो।'

इतना कहकर रुद्रदेव एक अन्धकारमयी गुफा के सामने इन्द्र को ले गया। इन्द्र ने काँपते हुए देखा कि धर्मराज, वायुदेव और दोनों अश्विनीकुमार हाथ–पैर बँधे वहाँ पड़े हैं।

देवराज इन्द्र डर कर भगवान् रुद्र के चरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़ कर बारम्बार स्तुति करने लगे। आशुतोष भगवान् शिव प्रसन्न हुए और उनका दोष क्षमा करके उन पाँचों को भगवान् विष्णु के पास ले गये। उनकी बात सुनकर भगवान विष्णु ने कहा– 'स्वर्ग के देवता होकर भी जब तुम इन्द्रियों का दासतत्व नहीं छोड़ सके, तब तुम्हें मृत्युलोक में जाकर मनुष्य देह धारण करना पड़ेगा ही। तुम पाँचों वहाँ जाकर जन्म लोगे और भगवती के वचनानुसार दूसरे जन्म में यह केतकी तुम्हारी पतिव्रता पत्नी होगी। संसार के कल्याण के लिए इस कार्य की आवश्यकता है। इसकी सिद्धि के लिए मैं भी तुम लोगों के साथ ही द्वापर युग में पृथ्वी पर अवतार्थ होऊँगा।

आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली महान् सती दक्षराज कन्या ही केतकी भगवान् के कार्य के लिए भगवती के शाप को निमित्त बनाकर राजा द्रुपद के यहाँ यज्ञकुण्ड से बालिका रूप में प्रकट हुई। इन्द्र, धर्म, वायु तथा अश्विनी कुमारों ने कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से जन्म लेकर इस केतकी रूपी द्रोपदी का पाणिग्रहण किया। पूर्व जन्म के महान् तप के फलस्वरूप ही सती द्रोपदी भगवान श्रीकृष्ण की सखी बन स ी और इसके महान् पतिव्रत्य तथा अपनी तपस्या का आदर्श स्थापित किया। कहते हैं कि–

" मनुष्यः देवानां पशुः। "

अर्थात् मनुष्य देवताओं के पशु होते हैं, किन्तु महान् तपस्विनी केतकी की तपस्या के फलस्वरूप देवताओं को भी देवलोक छोड़कर मृत्युलोक में पृथ्वी पर आना पड़ा।

यह था परम तपस्विनी केतकी के तप का महान् प्रभाव।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योगविद्या का रहस्य

श्री आयुर्वेद ब्रहस्पति श्री शिवकुमार शास्त्री

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात् जहाँ तपस्वियों में योगी अधिक श्रेष्ठ होता है ; वहाँ ज्ञानियों में (शास्त्र के ज्ञाताओं में) तथा कर्म काण्ड के करने वालों से भी योगी को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः हे अर्जुन तू योग साधन में ही प्रवृत्त हो। क्योंकि योग साधन के आश्रय से ही सर्व प्रकार के पाप–तापों से अर्थात् जन्म–मरण के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए ऋषि, मुनि, देव और मानव मोक्ष प्राप्ति के लिए प्राचीन काल से अद्यावधि लालायित रहते थे, एवं रहते हैं। किन्तु योगविज्ञान की साधना से पूर्ण लाभ वे ही जन उठा सकते हैं जो सत्संगति और सत्साहित्य के द्वारा शुद्धाचरण वाले बन चुकते हैं तथा नियमित दिनचर्या पर आरूढ़ होकर यम, नियम, आसन और प्राणायाम आदि की साधना से स्वजीवन स्तर में उत्कर्ष एवं सुधार कर चुके होते हैं। उपर्युक्त साधनों का पालन गृहस्थ जीवन में भी साध्य होता है। केवल मात्र प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि वैराग्यवान, तीव्रसंवेगी जिज्ञासुओं के द्वारा ही सिद्ध होना सम्भव होता है। योगाभ्यासी का शरीर आरोग्य होना एवं आत्मा, इन्द्रियों का निर्मल होना भी परमावश्यक होता है। इनकी प्राप्ति योग के चतुर्थ अंग प्राणायाम के द्वारा अभ्यासी को स्वयं उपलब्ध होती जाती है।

पंच शिखाचार्य जीने भी ऐसा ही कहा है :–

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिमेलानों दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

अर्थात् प्राणायाम के समान अन्य कोई तप नहीं है, इसके द्वारा आत्मा और इन्द्रियों के मल शुद्ध होकर प्राणी (मनुज) का ज्ञान प्रदीप्त हो जाता है।

इसी प्रकार से मनु महाराज ने भी " मनुस्मृति " में प्राणायाम् की महत्ता का वर्णन किया।

दह्यन्ते ध्यायमानानां, धातूनांहि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणाम् दह्यन्ते, दोषाः प्राणस्य निग्रह्यात्।।

जिस प्रकार भस्त्रिका का यंत्र (धोंकनी द्वारा धौकने से) अग्नि में तपाने पर सुवर्ण, चाँदी आदि सर्व धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से ही नियमित प्राणायाम के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों के सब दोष (विकार) नष्ट हो जाते हैं और प्राण मनुष्य के वश में हो जाते हैं।

हमारे लिखने में कतिपय जिज्ञासु बन्धु ऐसी आशंका कर सकते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान और योग साधन के अभ्यास से शारीरिक आरोग्यता का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए

किन्तु उनकी यह धारणा निभ्राँत नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी स्वस्थ शरीर ही सर्व प्रथम मुख्य साधन होता है। आयुर्वेद शास्त्र में भी , धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्, मोक्ष प्राप्ति के लिए आरोग्य शरीर ही मुख्य साधन बतलाया गया है। अतः यह पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है कि योग साधन के लिए शरीर का आरोग्य होना सर्व प्रथम आवश्यक है।

योग सिद्धि के पश्चात् योगियों की भाँति–भाँति की विभूतियों, चमत्कार (सिद्धियाँ, करिशमे) पढ़ने सुनने में आते रहते हैं, किन्तु इस प्रकार के करिश्मों चमत्कारों के द्वारा स्वयं योगियों का अथवा संसार का कोई विशेष लाभ एवं कल्याण होना सम्भव नहीं होता है।

अनेक योगिराज योग साधन के द्वारा स्वात्म कल्याण के साथ संसार के प्राणियों को मिथ्या मार्ग पर चलने से बचाकर कल्याण मार्ग का पथ–प्रदर्शन कर भूले–भटके अज्ञानी–जनों का भी परमोद्धार करते रहे हैं एवं वर्तमान और भविष्य में भी पथ–भ्रष्ट प्राणियों का अधिक उपकार करना योगाभ्यासियों के द्वारा ही अधिक सम्भव हो सकता है। अतः योगसिद्धियों को उपलब्धियों के पश्चात् योगियों द्वारा संसार के प्राणियों का उपकार करना भी परम कर्तव्य है। सुधार मौखिक एवं लेखनी दोनों के द्वारा किया जा सकता है।

साथ ही यह भी स्मरणीय है कि प्राणायाम और योगसिद्धियों के विषय में भ्रामक बातों एवं अनेकानेक प्रचलित किंवदन्तियों में न फंसकर वेदोक्त प्रकारानुसार बताये योग शास्त्र के सत्साहित्य में वर्णित यम, नियम, प्राणायाम आदि के अभ्यास को अपनाकर योग साधन में सिद्धि प्राप्त करके आत्म–कल्याण एवं पर–कल्याण करना ही परम श्रेयष्कर है।

लेकिन इस सत्य को नहीं भूल जाना चाहिए कि योग का निर्देशन किसी सद्गुरु से ही प्राप्त करना ठीक रहता है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

जप योग और गायत्री मंत्र

श्री तेजवीर सिंह जसवाल

वेद, शास्त्र तथा पुराणादि ग्रंथों में मनुष्य के कल्याण के लिए अनेक साधन दिखाये हैं। आधुनिक युग में वे सब श्रम एवं कष्ट साध्य होने से सर्व साधारण सांसारिक लोगों के लिए कठिन प्रतीत होते हैं, योगमार्ग में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मंहगाई के युग में स्वर्ण दान, गो दान, वस्त्र दान भी कोई सुगम कार्य नहीं है। इसलिए जपयोग का महत्व और फल शीघ्र सिद्धि–प्रदत्त होता है। इस जगत में प्रत्येक मनुष्य को अपनी सब प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण कर लेने के लिए मंत्र जप के समान सरल, सुलभ, सर्वश्रेष्ठ एवं अमोध दूसरा कोई साधन नहीं है। जप से रोग नाश होता है। लक्ष्मी की प्राप्ति होती है । जप से आयु की वृद्धि होती है। जप से सन्तान प्राप्त होती है। जप से बुद्धि एवं स्मरण शक्ति तीव्र होती है। जप से विद्या और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सारांश– जपयोग वास्तव में सब इच्छओं को पूर्ण करने वाला भूलोक का कल्प वृक्ष ही है। साधक को चाहिए कि वह किसी शुद्ध पवित्र एकान्त स्थान में शुद्धि–पवित्र होकर दोनों समय तथा हो सके तो रात्रि में स्वस्थ एवं शान्त मन से जप करें। गृहस्थाश्रमी हो तो उसके नियमानुसार ब्रह्मचर्य का अवश्य पालन करें। तथा सात्विक आहार–विहार द्वारा अपने में सत्वगुण बढ़ाने का प्रयत्न करें। शरीर में रजोगुण बढ़ जाने से मन चंचल होकर उसका उच्चाटन होने लगता है। अर्थात् साधन में एकाग्र एवं स्थिर नहीं हो सकता। और चंचल चित्त से किया हुआ कोई भी साधन सिद्धिदायक नहीं होता है। वैसे ही तमोगुण बढ़ने से प्रमाद, आलस्य, जड़ता, निद्रा–तन्द्रा–ग्लानि आदि विक्षेप उत्पन्न होते हैं।

जप के तीन भेद हैं। जो जप मुँह से स्पष्ट उच्चारण किया जाता है उसको वाचिक जप कहते हैं। जो मन्द स्वर से किसी को सुनाई न दे अर्थात् मुँह ही मुँह में किया जाता है उस जप को उपाँशु कहते हैं। जो जप जीभ एवं होठ न हिलाते हुए मन ही मन में किया जाता है उसको मानस जप कहते हैं। भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं।

" यज्ञानाँ जप यज्ञोऽस्मि "

अर्थात् सब यज्ञों में जप यज्ञ मेरी विभूति है। जप के लिए मंत्र का कोई बन्धन नहीं है। साधक की जिस मंत्र पर श्रद्धा और रुचि हो वह उसी मंत्र का जप कर सकता है। वैसे किसी गुरु से मंत्र की दीक्षा या उपदेश ग्रहण किया जाना ज्यादा श्रेष्ठ होगा, ध्यान सहित जप करना ही शीघ्र फलदायक है।

जप करते समय नेत्र बन्द कर हृदय में जिस मंत्र का जो देवता हो उसकी सांगोपांग मूर्ति का अवश्य ध्यान करें। अर्थात् मंत्र के अक्षरों को हृदयाकाश में अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें। कुछ दिनों के अभ्यास से मन स्थिर होने पर मंत्र के अक्षर प्रकाशरूप ज्यों के त्यों

स्पष्ट दिखने लगते हैं। ऐसा कई विद्वानों का अनुभव है। और अभ्यास दृढ़ होने पर मंत्र ही देवता के रूप में दर्शन देता है। जैसा गायत्री मंत्र में कहा गया है। मंत्र के ध्यान से वह मंत्र ही स्वयं देवता का रूप धारण कर ध्यान में दर्शन देकर पुनः मंत्र में लीन हो जाता है। इस प्रकार बार-बार मंत्र और देवता का आविर्भाव, तिरोभाव (प्रकट होना और लोप होना) होता रहता है। हमारे हिन्दू धर्म में बड़े-बड़े मंत्रों का समावेश है जिनके जपने से ईश्वर का साक्षात्कार यानी प्रत्यक्ष दर्शन एवं उसकी प्राप्ति और उनका ऐहिक तथा पारलौकिक परम कल्याण हुआ है।

गायत्री जप के अनेक दिव्य फल हैं पर मैं उनका अत्यन्त सूक्ष्म रूप में वर्णन करता हूँ। गायत्री का यथार्थ में क्या महत्व है ? गायत्री का जप करने वाला परमश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त होता है। जिस घर में जप किया जाता है, वहाँ कभी अग्नि नहीं लगती, उस घर में कभी बालक की मृत्यु नहीं होती और न ही उस घर में सर्प रहने पाते। वैसे ही जो गायत्री का जप करते हैं उनको राजा (अफसर) आजकल अँग्रेजी में बास कहते हैं। पिशाच, राक्षस, अग्नि, जल, वायु, सर्प, चोर, डाकू आदि से भय नहीं होता और नहीं उनको अन्य किसी प्रकार का दुःख प्राप्त होता है तथा अन्त में ये श्रेष्ठ गति को पाते हैं। जो गायत्री जप को करता है उसको अन्य किसी जप, तप, पूजा आदि की आवश्यकता नहीं रहती है।

गायत्री मंत्र का अर्थ –

" ॐ भूर्भव स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियोयोनः प्रचोदयात् तस्य वाचकः प्रणव।"

इस योग सूत्र के अनुसार ॐ परमात्मा सर्वश्रेष्ठ नाम है। भूः भुवः स्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं। जैसे–

(1). जो (भूः) प्राणरूप से सब प्राणियों को जीवित रखता है और आरोग्य प्रदान करता है। जो (भुवः) अपान रूप से सब दुःखों का नाश करता है। जो (स्वः) ध्यान रूप से सब जगत को गति देता है, चलाता है एवं प्रेरणा प्रदान करता है।

(2). जो भूर्लोक, भवर्लोक और स्वर्लोक इन तीनों लोकों को प्रकाशित करता है, तथा जो तीनों लोकों का अधिपति स्वामी होकर उन पर अपनी सत्ता या अधिकार चलाता है।

(3). जो सत् चित् (ज्ञान) और आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप है।

(4). जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति रूप है उस सब जगत को उत्पन्न करने वाले प्रकाश स्वरूप सविता देव के उपासना करने योग्य श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को (कल्याण कारक) प्रेरणा प्रदान करता है।

प्रत्येक मनुष्य जो भी काम करता है वह उसकी बुद्धि से जैसी प्रेरणा मिलती है, उसी के अनुसार करता है। सद्बुद्धि की प्रेरणा करना सूर्य के तेज का मुख्य धर्म है। तेज का ध्यान करते हुए अर्न्तदृष्टि में लाल, पीले, नीले, श्वेत आदि रंगों के चक्र या मण्डल एक में एक मिले हुए घूमते दिखाई देते हैं।

ऋषि दयानन्द ने मूर्ति पूजा व अन्य मंत्र, तन्त्रों आदि का खण्डन किया है, लेकिन इस महामंत्र का उन्होंने भी समर्थन किया और अपने सम्प्रदाय में इसका प्रचार किया। अब आप ही अन्दाजा लगाइये कि इस गायत्री मंत्र की महिमा कितनी है ! यदि अनेक मनुष्यों ने एक जगह बैठकर गायत्री का जप किया तो सूर्य के पास से एक ही तेज किरण आती है। लेकिन उसकी

चौड़ाई बहुत ही अधिक रहती है। साथ में जप करने वालों के सूक्ष्म देह उस समय एक जगह मिल जाते हैं और ऐसे मिश्रण से उत्पन्न होने वाले एक विशाल सूक्ष्म देह में से सात बड़े प्रवाह बाहर निकलते हैं। हर एक मनुष्य में से अलग–अलग सात प्रवाह नहीं निकलते। ऐसे सभी चमत्कार दिव्य दृष्टि द्वारा ही दिखाई देते हैं।

जप करने वाले मनुष्य के शरीर में से तेज का प्रवाह निकलकर जिन मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करता है वे उसके वशीभूत होकर उसकी इच्छानुकूल आचरण करने लगते हैं। तथा वह तेज जितनी दूर तक फैला होता है, उस क्षेत्र की वस्तुयें इच्छा होने पर आकर्षित होकर उसके पास आती हैं। रामायण काल का एक प्रसंग जो किसी बड़े अध्यात्मवादी से सुना है, वह कि मेघनाथ ने जो ब्रह्म शक्ति श्री लक्ष्मण जी पर चलाई थी, वह गायत्री मंत्र की ही महिमा थी, अन्यथा लक्ष्मण जी जो कि शेष–अवतार थे, मेघनाद द्वारा कभी भी मूर्छित नहीं हो पाते।

एक बार राजस्थान में बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। लोग भूख–प्यास से व्याकुल होकर मरने लगे। फिर एक बड़े योगी (महात्मा) ने जो कि गायत्री मंत्र जपते थे, लोगों के प्राण बचाये। महात्मा जी जिस स्थान पर बैठे और ध्यान लगाया, वहाँ पर अन्न के भण्डार लग गये। भूखे लोग अकाल से बच गये। एक व्यक्ति मेरे अपने अनुभव में आया। वह एक बड़े असाध्य रोग से ग्रस्त था। डाक्टरी चिकित्सा से हताश होकर, मेरे सम्पर्क में आया, अत: मैंने उसको गायत्री मंत्र के जप की सलाह दी और विधि भी बतला दी। मरता क्या नहीं करता वाली कहावत है। उस रोगी व्यक्ति ने श्रद्धापूर्वक गायत्री जप किया और कुछ ही दिनों में असाध्य रोग से छुटकारा पाया। इस मंत्र की जप संख्या एक लाख पच्चीस हजार है। इस मंत्र द्वारा मार्जित पानी पिलाने से बुखार, भूत, नजर आदि भी दूर हो जाती है, पर विश्वास होना जरूरी है। जिन लोगों को विश्वास नहीं है वह प्रभू के इस खजाने का कोई लाभ नहीं उठा सकते।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

वेदों एवं उपनिषदों में योगचर्या

श्री केशव उपाध्याय, अवर–अभियन्ता

मानव मन में चाहे जिस भी प्रक्रिया द्वारा जब एकाग्रता धर्म का उदय होने लगता है तो मन शक्तिपुंज एवं एक देशीय होकर जिस वस्तु को ग्रहण करता है उसमें उसके स्थूल रूप से लेकर उसके सूक्ष्म जगत में घटने वाली सारी घटनाओं का साक्षात्कार कर लेता है। चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध समाधि की पराकाष्ठा का ही द्योतक है। अतः प्राचीन ऋषि–मुनियों ने वैदिक ऋचाओं का साक्षात्कार योग–विधि से कर वेद की रचना की है। चित्त–वृत्तियों का निरोध, मन की लयता या प्राण की लयता से सम्भावित है। वेदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में शरीर की संरचना के दृष्टिकोण से प्राणजयता द्वारा योग की प्राप्ति अत्यधिक सहज रही होगी। ऐतरेयआरण्यक के प्राण विद्या विषयक अध्यायों में ऋग्वेद के कई मंत्र उद्धृत किये गये हैं। वहाँ प्राण को समस्त विश्व में व्याप्त बताया गया है। दीर्घतम ऋषि निम्न मंत्र के द्रष्टा हैं और वे कहते हैं कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है। वह मंत्र इस प्रकार से है :–

अपश्यं गोपामनिपद्यमान, मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान, आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।

अर्थात् यह प्राण सब इन्द्रियों का रक्षक है, यह कभी नष्ट नहीं होने वाला है, यह भिन्न–भिन्न नाड़ियों द्वारा आता और जाता है। मुख और नासिका द्वारा प्रतिपल शरीर में आना–जाना लगा हुआ है। यह प्राण शरीर अध्यात्म रूप से वायु रूप में है, परन्तु अधिदैव रूप में सूर्य है। आगे प्राण अमृतरूप है, इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ऋग्वेद में यह मंत्र दिया गया है –

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येया सयोनिः।

सा शश्वन्ता विश्चीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्।।

फिर आगे चलकर प्राण की ध्यानविधि प्राण के गुणों का साकार वर्णन करते हुए किया गया है। प्राण ही ऋषि रूप है। ऋग्वेदों के मंत्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं।

इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए। क्योंकि प्राण ही मंत्र द्रष्टा ऋषियों के आकार में व्याप्त है।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों में योग–साधना का स्वरूप विस्तृत, स्पष्ट एवं भेद–प्रभेद से सविस्तार किया गया है। उपनिषदों में सर्वत्र योग का निर्देश है, परन्तु कुछ उपनिषद् योगचर्या प्रधान ही हैं। इन उपनिषदों का नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं–

अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, विन्दूपनिषद, क्षुरिकोपनिषद्, तेजोविन्दूपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, ध्यानविन्दूपनिषद्, नादविन्दूपनिषद्, पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, ब्रह्मविद्योपसिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, महावाक्योपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगचूडामण्डुपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, वराहोपनिषद्, शाडिल्योपनिषद्, हंसोपनिषद्, योगराजोपनिषद्।

बहुतायत से इन सभी ग्रन्थों में षडंगयोग, अष्टांगयोग, नादयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कुण्डलिनीयोग इत्यादि–इत्यादि का सविस्तार वर्णन किया गया है। इन उपनिषदों के अवलोकन से मूलत: यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम के प्रकार– भेद भिन्न–भिन्न रूप से वर्णित किये गये हैं। अमृतनादोपोनिषद् में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि षडंगयोग माना गया है। तर्क का लक्षण यह है–

आगमस्या विरोधेन ऊहां तर्क उच्यते।

अर्थात् आगम सेअविरुद्ध अनुमान तर्क कहा जाता है। अमृतविन्दुपनिषद् में मन को ही निर्विषय बनाने का ही नाम मोक्ष बताया गया है। क्षुरिकोपनिषद् में षडंगयोग का ही वर्णन है, परन्तु इसमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि संक्षेप से कहे गये हैं। तेजोविन्दुपनिषद् में योग के पन्द्रह अंग बतलाये गये हैं। ये अंग–

यमो हि नियमस्त्यागो, मौनं देशश्चकालत:।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थिति:।।
प्राणसंयमनं चैव, प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च, प्रोक्तान्यंगानि वै क्रमात्।।

अर्थात् यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध,देहसाम्य, दृकस्थिति, प्राण–संयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि ये अंग क्रम से बताये हैं। इनमें वेदान्त प्रतिपाद्यतत् एवं त्वम् पदार्थ के अभेद का निरूपण किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग दो प्रकार का–कर्मयोग तथा ज्ञानयोग वर्णित किया गया है वर्णित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि यह कर्त्तव्य कर्म है।

मन का ऐसा नित्य–बन्धन तथा श्रेय अर्थो में चित्त का सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग बनाया गया है। इसके अनन्तर अष्टांगयोग का वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि अष्टांगयोग भगवान् पतंजलि के निर्देशित अष्टांगयोग से मिलता जुलता ही है। कैवल्य स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि–

अहमेव परब्रह्म, ब्रह्माहमिति संस्थिति:।
समाधि: स तु विज्ञेय:, सर्ववृत्ति विवर्जित:।।

सुषुप्तिवद् यश्चरति, स्वभावपरिनिश्चलः।
निर्वाणपद्माश्रित्य, योग कैवल्यमश्नुते।।

अर्थात् मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थिति समाधि जानो। उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं होती तथा ऐसी अवस्था का व्यक्ति सोया हुआ सा चलता है, स्वभाव से ही जो सर्वत्र निश्चल है ऐसा योगी निर्वाण पद का आश्रय कर कैवल्य प्राप्त करता है। दर्शनोपनिषद् में भगवान् दत्तात्रेय ने अष्टांग योग का विधिपूर्वक निर्देश अपने एक शिष्य को किया है। ध्यानबिन्दुपनिषद् में षडंगयोग की साधना द्वारा नादानुसंधान की प्रक्रिया से आत्मोपलब्धि बतलायी गई है! नादबिन्दोपनिषद में प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान का ही वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् पाशुपतिब्रह्मोपनिषद एवं ब्रह्मविद्योपनिषद में ज्ञान योग एवं नादयोग का वर्णन मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद में अष्टांग योग तथा तारकयोग का वर्णन किया गया है। महावाक्योपनिषद में हंस–विद्या का वर्णन किया गया है–

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डल ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानेलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्डायसिध्यायमान सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

' काण्डान्तर में जो ज्योतिर्मण्डल स्वरूप आदित्य है वही विद्या है ', अन्य कोई नहीं। ' असी आदित्यब्रह्म ' यही आदित्य ब्रह्म है, जिसका **' हंसः सोऽहम् '** इस अजपा मंत्र से निर्देश किया जाता है। प्राणापान की अनुलोम और प्रतिलोम की गति से वह विद्या जानी जाती है। दीर्घकाल के अभ्यास से वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्म का ध्यान किया जाता है तक सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं। '

योगकुण्डल्युपनिषद में कुण्डलिनी योग एवं खेचरी इत्यादि मुद्राओं की बात कही गई है। योग–चूडामण्डूपनिषद् में अष्टांग योग का ही वर्णन किया गया है। योगतत्त्वोपनिषद में मंत्र योग, हठयोग एवं राजयोग का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध अष्टांग योग का ही सविस्तार वर्णन किया गया है। योग शिखोपनिषद में योग तत्त्वोपनिषद में कहे गये विषयों का सविस्तार यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं तथा मंत्र योग हठयोग एवं राजयोग का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया गया है। इन्हें यथा क्रम चार भूमिकाओं का स्वरूप प्रदान किया गया है जिन्हें मिला कर महायोग के नामसे जाना जाता है देखें–

मन्त्रोलयो हठो राज– योगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं, महायोगोऽभिधीयते।।

बराहोपनिषद में लय, मंत्र तथा हठयोग का वर्णन किया गया है। शांडिल्योपनिषद् में अष्टांगयोग, संक्षेप में वर्णित किया गया है। हंसोपनिषद् में संक्षेप से नादानुसंधान, अजपाजप एवं हंस विद्या का वर्णन किया गया है। योगराजोपनिषद् ऊपर के बीसों उपनिषदों का सारांश है।

इस प्रकार से वेदों एवं उपनिषदों में महाविद्या योग का सविस्तार वर्णन मिलता है। वैदिक ग्रन्थ प्राण विद्या को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं। योग में प्राणों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राणायाम से ही सम्बन्धित है। सभी उपनिषद् मोक्ष के दो ही उपाय बताते हैं मनोजय एवं प्राणजय। मनोजय वासनाओं के क्षीण होने से होता है किन्तु प्राणायाम द्वारा प्राण जय से मनोलयता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिए योग में प्राणायाम का इतना महत्व है। कठोपनिषद् में कहा गया है :-

उर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।

अर्थात् जो प्राण को ऊपर भेजता है और अपान को नीचे फेंकता है उस मध्य में रहने वाले वामन को विश्वे देव भजते हैं।

इस प्रकार से शाश्वत अनादि काल में हुई वेदों की रचना ने एवं उपनिषदों में योग की परम महत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो उठती है। योग मानव मन का गहनतम विज्ञान वहाँ है एक तरफ, वही समाधि स्वरूप में यह स्वयं ब्रह्मतत्व एवं आत्मतत्व का द्योतक है। इसके ही माध्यम से युग–युग में मानव समाज को मानसिक विकास का श्रेय प्राप्त होता रहा है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

यौगिक-चक्र और उनकी सत्यता

श्री वारेलाल 'नीरज' साहित्य-रत्न, आगरा

शरीरस्थ चक्र 10 हैं जिनमें 8 मुख्य हैं।

(1). मूलाधार
(2). स्वाधिष्ठान
(3). मणिपूरक
(4). अनाहत
(5). विशुद्धि
(6). सूर्य
(7). आज्ञा
(8). सहस्त्रार

संक्षेप में वर्णन :–

(1) **मूलाधार**– रीढ़ की हड्डी के नीचे, गुदा मूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थमूल दो अंगुल नीचे है।

(2) **स्वाधिष्ठान**– मूलाधार चक्र से चार अंगुल ऊपर पेडू के पास है। इससे 'अणिमा' और 'लधिमा' सिद्धि प्राप्त होती है।

(3) **मणिपूरक**– यह चक्र नाभि के समीप स्थित है।

(4) **सूर्य चक्र**– नाभि से कुछ ऊपर हृदय की धुक–धुकी के ठीक पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर इसका स्थान है। प्राण का कोष नहीं है।

(5) **अनाहत**– यह चक्र हृदय स्थल में रहता है। इसके मनन से खेचरी शक्ति (वायु में गमन करने की शक्ति) आती है।

(6) **विशुद्धि चक्र**– यह कण्ठ में स्थित है। उदान वायु का मुख्य स्थान है।

(7) **आज्ञा चक्र**– यह चक्र दोनों भौहों के मध्य में त्रिकुटी में स्थित है। इस चक्र के दोनों ओर इडा और पिंगला है। वही क्रमशः वरणा और असी हैं और यह स्थान वाराणसी है। यहाँ विश्वनाथ का वास है। वास्तव में वाराणसी (बनारस, काशी) यही है और विश्वनाथ का वास भी यही है किन्तु साधारण जनता उत्तर प्रदेश के काशी को विश्वनाथ का स्थान समझती है। यह सब पौराणिक ब्राह्मण बाद के कारण हुआ जो शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं जानते हैं।

(8). **सहस्त्रार कमल चक्र (शून्य चक्र)**– इसका स्थान तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरंध्र है। वही सुषुम्णा का नीचे की ओर विस्तार है। अन्त में वह मूलाधार चक्र में पहुँचती है। वहीं से कुण्डलिनी जागृत होकर सुषुम्णा के ऊपर बढ़ती है और अन्त में ब्रह्म रंध्र में पहुंचती है। ब्रह्मरंध्र में ब्रह्म की स्थिति है।

इस रन्ध्र में छः दरवाते हैं जिसे कुण्डलिनी ही खोल सकती है। इस रन्ध्र का रूप बिन्दु (0) रूप है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहसदल कमल के मध्य में एक योनि है उसका मुख नीचे की ओर है। उसके मध्य चन्द्राकार स्थान है जिससे सदैव अमृत का स्त्राव होता है। यह इड़ा नाड़ी द्वारा बहता है और मनुष्य को दीर्घायु बनाने में सहायक होता है। जो प्राणायाम से अनभिज्ञ है उनका अमृत प्रवाह मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य द्वारा शोषण कर लिया जाता है। यदि अभ्यासी इस अमृत का प्रवाह कण्ठ को बन्द कर रोक ले तो उसका उपयोग शरीर की वृद्धि में होगा और यदि तक्षक भी उसे काट ले तो उसके शरीर में विष का संचार न होगा।

चक्रों की सत्यता

मूलाधार चक्र–

यः करोति सदा ध्यानं, मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दरी सिद्धि, भूर्मित्याग क्रमेण वै।।

(शिव संहिता)

अर्थात्– मूलाधार चक्र पर मनन तथा ध्यान करने से उस ज्ञानी पुरुष को दर्दुरी सिद्ध (मेढ़क के सदृश) उछलने की शक्ति प्राप्त होती है और वह धीरे–धीरे पृथ्वी को सम्पूर्णतः छोड़कर आकाश में उड़ सकता है।

कहते हैं कि महर्षि दयानन्द में यह शक्ति आ गई थी और उन्होंने किसी नरेश को एकांत में दिखलाया भी था। गुब्बारे की भाँति यह सब सम्भव है।

मणि–बूरक चक्र–

इस चक्र पर चिन्तन करने से योगी पाताल सिद्ध (सर्वदा सुखदायक) प्राप्त होता है। वह इच्छाओं का स्वामी हो जाता है। वह दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। वह स्वर्ण बना सकता है और छिपा हुआ कोष भी देख सकता है।

' शंकर दिग्विजय ' में यह वर्णन आता है कि श्री शंकराचार्य जी महाराज काम–विद्या को सीखने के लिए किसी राजा के शरीर में प्रविष्ट हुए थे।

दूसरा उदाहरण और भी सत्य है। सन् 1939 की घटना है कि एक दिन पश्चिमी कमान के सैनिक कमाण्डर श्री एल.पी. फैरेल अपने सहायक अधिकारियों के साथ एक युद्ध सम्बन्धी योजना तैयार कर रहे थे। यह स्थान जहाँ पर कैम्प लगा हुआ था, आसाम वर्मा की सीमा पर था वहीं पास में एक नदी बहती थी। नदी के पास ही यह मंत्रणा चल रही थी। फैरेल ने टेलेस्काप से देखा कि एक जीर्ण–शीर्ण शरीर का वृद्ध संन्यासी पानी में घुसा हुआ एक शव को बाहर खींच रहा है। वह कठिनाई से बाहर आ पाया, यह दृश्य सब लोग देखते रहे। वृद्ध शव को खींचकर एक वृक्ष के नीचे ले गया, फिर थोड़ी देर तक सन्नाटा छाया रहा, कुछ पता नहीं चला कि वह युवक क्या कर रहा है। कोई 15–20 क्षण पीछे ही दिखाई दिया कि वह युवक जो अभी शव के रूप में नदी में बहता चला आ रहा था, उन्हीं गले कपड़ों को पहने बाहर निकल आया और कपड़े उतारने लगा।

मृत का जीवित होना महान् आश्चर्य। सबने उसे घेरा और फैरेल के पास ले गये।

फैरेल ने प्रश्न किया

वह वृद्ध कहाँ है ? इस पर युवक हँसा और बोला वह वृद्ध मैं ही हूँ। लेकिन अभी कुछ देर पहले तुम शव थे, एक बुड्ढा तुम्हें खीचकर किनारे पर ले गया, फिर तुम प्रकट हो गये, यह रहस्य क्या है ? यदि तुम्ही वह वृद्ध हो तो वह वृद्ध का शरीर कहाँ है।

युवक बोला– मैं योगी हूँ मेरा शरीर वृद्ध हो गया था। काम नहीं देता था, अभी इस पृथ्वी पर रहने की आकाँक्षा तृप्त नहीं हुई थी। किसी को मारकर बलात् शरीर में प्रवेश करना तो पाप होता है, इसलिए मैं बहुत दिन से यह प्रतीक्षा में था कि कोई अच्छा शव मिले तो उसमें यह पुराना चोला बदल लूँ, सौभाग्य से यह इच्छा पूरी हुई। मैं ही वह वृद्ध हूँ, यह शरीर उस युवक का था, अब मेरा है।

फैरेल ने पूछा– तब तुम्हारा पहला शरीर कहाँ है ?

युवक बोला– पेड़ के नीचे पड़ा है। उसका दाह–संस्कार कर देता, लेकिन पकड़ लिया गया। श्री फैरेल ने इसके बाद उस संन्यासी से बहुत सारी बातें हिन्दू दर्शन के बारे में पूछीं। वह यह भी जानना चाहते थे कि स्थूल शरीर के अणु–अणु में व्याप्त प्रकाश शरीर के अणुओं को किस प्रकार समेटा जा सकता है ? किस प्रकार शरीर से बाहर निकाला जा सकता है और दूसरे शरीर अथवा मुक्त आकाश में रखा जा सकता है। इस अंग्रेज को तभी से भारतीय दर्शन पर विश्वास हो गया। कोश (सैल) स्थिति नाभिक (न्यूक्लियस) में जिसमें जीवित चेतना के सूक्ष्मतम् संस्कार माला के मनकों की तरह पिरोये हैं, स्वतंत्र कोश में शरीर निर्माण की क्षमता है, अमीबा के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है। पर वैज्ञानिक अब भी यह स्वीकार नहीं करते हैं कि न्यूक्लिस स्वतन्त्र अवस्थाओं में भी रह सकता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि भारतीय दर्शन का यह कायाप्रवेश करेगा।

अनाहद चक्र

इसका चिन्तन करने वाला भूत, वर्तमान और भविष्यत काल का ज्ञाता है। वायु में गमन कर सकता है, उसे खेचरी शक्ति (आकाश में जाने की शक्ति) प्राप्त होती है, कबीर के विषय में मैंने पढ़ा है कि एक बार उन्होंने अपने गुरु रामानन्द को खेचरी शक्ति के माध्यम से पराजित किया था।

शून्य चक्र

योगिराज महर्षि दयानन्द ने इस सिद्धि को प्राप्त कर लिया था, उनके दुश्मनों ने उनको जहर पिला दिया था। इसी योगिक क्रिया के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण विष को शरीर से बाहर निकाल दिया था।

अन्ततोगत्वा यह सिद्ध हो गया कि योगिक चक्रों की सत्यता सोलह आने सत्य है, अकाट्य है, क्या इसके समान संसार का कोई और भी दर्शन है, नहीं कहीं नहीं। आज का विज्ञान भी आध्यात्मिकता को सत्य मानता है। और उसे इस अध्यात्मवाद के चरणों में निकट भविष्य में अवश्य ही झुकना पड़ेगा।

धन्य है यह भारत का आध्यात्मिक ज्ञान।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

पाप और पुण्य

श्री पं. स्वामीनाथ जी पाण्डेय, नरसिंहपुर

'पाप ' और 'पुण्य ' का शब्दार्थ

महर्षि दयानन्दजी सम्पादित उणादि–कोश में पाप और पुण्य की परिभाषायें निम्नलिखित दी हुई हैं–

पान्ति रक्षन्त्यात्मानमस्मादिति पापम् अधर्मो वा।

(उणादि . 3/23)

पवते पवित्रो भवति येन तत् पुण्यम् सुकृतो धर्मो वा।

(उणादि . 5/15)

उपर्युक्त वृत्तियों को देखने से प्रकट हो रहा है कि जिससे लोग अपनी रक्षा या पालन करते हैं, उसको 'पाप' कहते हैं।

मनुष्य की रक्षा या पालना के दो रूप हैं– जिन चीजों को आवश्यक समझ कर मनुष्य उनके सेवन द्वारा अपनी रक्षा या पालन करता है, वे एक वर्ग में आती हैं। जिन चीजों को अनावश्यक या विपरीत समझकर मनुष्य उनसे दूर रहकर अपनी रक्षा या पालन करता है, वे द्वितीय वर्ग में आती हैं। इन्हीं द्वितीय वर्गीय वस्तुओं से अपनी रक्षा, पालना का भाव पाप में गृहीत है। दूसरे शब्दों में जिनसे बचकर रहा जाए, उन्हें 'पाप' ही अधर्म है। जो पवित्र करता है, जिससे कोई पवित्र होता है, उसे 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य ही सुकृत या धर्म भी कहा जाता है। पाप को दुष्कृत या कुकृत भी कहा जाए, तो निरर्थक नहीं होगा। सब प्रकार के सुन्दर काम पुण्य हैं। सब प्रकार के दुष्ट काम पाप हैं। 'पुण्य' धर्म है, 'पाप' अधर्म है, अधारक है, मारक है।

पाप और पुण्य के व्यास–सम्मत लक्षण

अष्टादशपुराणेषु, व्यासस्य वचन-द्वयम्।
परोपकाराय पुण्याय, पापाय पर-पीडनम्।।

महर्षि व्यास जी ने परोपकार को पुण्य माना है और पर–पीड़न को पाप कहा है। 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ, साधु, अच्छा, सज्जन इत्यादि है। अतः पर–हेतु जो कार्य किया जाए, वह सब पुण्य है। पर के कष्ट–हेतु जो कार्य किया जाए, वह सब पाप है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी के भाव को अपने शब्दों में यों व्यक्त किया है–

परहित सरसि धर्म नहिं भाई।
पर-पीड़ा-सम नहिं अधमाई।।

पाप और पुण्य के अन्य व्यावहारिक रूप

महर्षि मनु जी ने मनुस्मृति के बारहवें अध्याय के 5–3 श्लोकों में पाप के दस भेद संकेतित किये हैं – 1. अन्याय से पर द्रव्य लेने की इच्छा, 2. मन से पराया बुरा चाहना, 3. परलोक में कुछ नहीं है, ऐसा विश्वास करना– ये तीन ' मानस– पाप ' कहलाते हैं।1. कठोर भाषण, 2. असत्य भाषण, 3. सब प्रकार की चुगली करना तथा 4. असम्बद्ध प्रलाप करना– ये चार पाप वाणी सम्बन्धी माने जाते हैं।1. अन्याय से दूसरे का धन लेना, 2. शास्त्र के विधान से अतिरिक्त हिंसा करना, 3. पर–स्त्रीगमन करना– ये तीन कायिक पाप माने जाते हैं।इस प्रकार मनुष्य मन, वचन और शरीर से मुख्यतः उपर्युक्त दस पाप करता है। इन पापों को छोड़ना ही ' पुण्य ' है।

मनु प्रोक्त दस पापों के सम्बन्ध में कुछ और

जब आदमी स्वार्थवश लोभ में आकर गलत ढंग से पर–पदार्थ लेने की इच्छा करता है, तो वह पाप करता है।मन को कुविचार द्वारा तुरन्त पाप में डुबो देता है।यदि कहीं उसकी गलत इच्छा पूर्ण हो गई, तो उसका साहस दुस्साहस के रूप में परिणत हो जाता है और वह सदैव पराई बुराई चाहने लगता है।पाप की अधिकता होने पर फिर 'परलोक' कुछ नहीं है, ऐसा गलत विश्वास जमा लेता है। वह अपने पापों के दुःख रूप फलों की प्राप्ति को भूलने के लिए नास्तिकता के मार्ग का पथिक बनता जाता है। न्याय–भावना, अन्याय–भावना का सतत् चिन्तन, पुनः नास्तिकता, ये मानस–पाप मनुष्य के अन्दर बड़ी शीघ्रता से भीतर ही भीतर घर करते हैं।अपनी मानसिक बुराइयों को पर्दे की आड़ में करने का प्रयास वह कुछ भी नहीं करता। वह नास्तिक बन चुका है। कटु–भाषण करना (अप्रिय सत्य बोलना),असत्य भाषण करना, चुगली करना और व्यर्थ की बातें बोलना, ये वाणी सम्बन्धी पाप होते हैं। कटु भाषण मन की मलिनता का द्योतक है, असत्य भाषण मन की मलिनता का द्योतक है, चुगली करना मन की लघु–भावना का द्योतक है, ' बकवाद ' करना अस्थिर मन का द्योतक है। इस प्रकार जब व्यक्ति का मन मलिन होता है, तो वह उसका मन कुभावों से भर जाता है, तो वह वाणी सम्बन्धी पाप–रत होने लगता है।फलतः उसके मन एवं वाणी का प्रभाव उसके प्रकट व्यवहारों पर विशेष रूप से दीखने लगता है। अन्याय से दूसरे के धन को ले लेना, अवैध हिंसा करना तथा पर–स्त्रीगमन करना ये तीन शारीरिक पाप हैं।

इन दसों पापों के मूल में मनकी मलिनता सर्वोपरि है।जब मनुष्य का मन बदल जाता है, दृष्टिकोण बदल जाता है, भाव दूषित हो जाता है, तब वह उपर्युक्त दस पापों का शीघ्र या देर में शिकार बन जाता है।उससे उपर्युक्त पाप यन्त्रवत् होने लगते हैं। उसको उसी में मजा मिलने लगता है। वह सब प्रकार के पाप करने का अभ्यासी बन जाता है। वह ऐसा दिखाता है, जैसे उसको अपने कामों से किसी प्रकार की ग्लानि नहीं है, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं होती। वह व्यक्ति जीवन में अपने किये के लिए विकट अफसोस करता है और अपनी दुर्गति से अपने किये को धीरे–धीरे याद भी करता है। जिस लघु–स्वार्थ–हेतु सब कुछ किये होता है, वह सब दौड़ –दौड़कर काटते प्रतीत होते हैं।मन ऐसा नहीं है कि जैसा चाहें बना लें और और सुख भी हर प्रकार के मन से प्राप्त कर लें।

मनुष्य के लाभार्थ महर्षि मनु जी ने यह भी बताया है कि जिस काम को करके, करते हुए और करने की इच्छा से सदैव मन में प्रसन्नता तथा उल्लास का समावेश हो, निर्भयता का अनुभव हो, वह अच्छा काम है, पुण्य काम है, पुण्य है। जिस काम को करके, करते हुए और करने की इच्छा से सदैव मन में भय, घृणा, लज्जा , शोक इत्यादि का अनुभव हो, वह बुरा काम है, पाप कर्म है, पाप है। यह दूसरी बात है कि अपने आसपास ऐसे व्यक्ति हों जो चोर–चोर मौसेरे भाई हों, एक स्वभाव के हों, स्वार्थवश भयभीत रहते हों, कुछ कहने या पवित्र कदम उठाने में डरते हों। तो अपने को सर्वोपरि मानकर अपने मन में जोरदार ग्लानि न हो पर समय की गतिविधि के अनुसार जब दुर्दिन आते हैं और अपने तथाकथित सहायक नहीं रहते, तब अपने कुकृत्य भयावह रूप धारण करके वेदना देने लगते हैं। मन के इस रोग की दवा खोजने से भी नहीं मिलती ।ईश्वरीय दण्ड या न्यायी सरकार का दण्ड ही कुछ–कुछ राहत देना प्रारम्भ करते हैं।

पाप के दुःखद फल सदा प्राप्त नहीं होते, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि पाप हुआ ही नहीं। शास्त्रों में बताया है कि जैसे समय पाकर गाय बछड़े और दूध देती है, वैसे ही पाप समय पाकर अपना कटु फल देते है। अपने किये का फल अवश्य मिलता है और कर्ता को ही मिलता है। जैसे हजारों गायों में बछड़ा अपनी माँ के पास ही जाता है, वैसे ही पापकर्ता के पास ही फल जाता है, अन्य के पास नहीं जाता। शास्त्र इस बात को डंके की चोट से बता रहे हैं कि यदि लौकिक सरकार की निगाहों से कोई बच गया तो भले ही बच गया, पर सरकार की सर्वोपरि सरकार प्रभु–शक्ति से वह व्यक्ति नहीं बच सकता। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि परलोक में भगवान् ने दण्ड दिया, इसका क्या प्रमाण है ?

पाप–पुण्य का फल दुःख–सुख प्रभु–प्रदत्त

प्रायः देखा जाता है कि एक ही माता–पिता के अनेक पुत्र परस्पर एक समान नहीं होते। गुण–कर्म–स्वभाव की विभिन्नता सदा पाई जाती है। समान–सुविधा और समान–अवसर पाने पर भी उनके विकास–क्रम में वैभिन्नय – भाव देखा जाता है। मानवेतर प्राणी विभिन्न गुण–कर्म–स्वभाव के पाये जाते हैं। मानव–वर्ग में भी सभी लोग समान गुण–कर्म–स्वभाव के नहीं पाये जाते। सुख दुःख एक समान सबको नहीं मिलता। संसार में एक काल में विभिन्न स्थानों में विभिन्न माता–पिताओं से अनेक बच्चे पैदा होते हैं। पर सबके सुख–दुःख में एकता नहीं होती। आखिर पूर्व जन्म स्वीकार करने वाले लोग यह कहकर कि सभी अपने पूर्वजन्म कृत पाप–पुण्य का फल लेकर आते हैं, अतः विभिन्नता रहती है, एक तरफ जा सकते हैं। पर जो लोग पूर्वजन्म नहीं मानते, वे इसका क्या उत्तर देंगे कि ऐसी विभिन्नता क्यों है। जो लोग पूर्वजन्म नहीं मानते, पर ईश्वर विश्वासी होते हैं वे लोग क्या उत्तर रखते हैं ? यदि उनका मत यह हो कि ईश्वर सर्व–शक्तिमान एवं सर्वोपरि होने से जिसको जैसा चाहता है, बना देता है। परन्तु यह कथन ईश्वर के न्याय–धर्म का बाधक है, अतः न्यायकारी भगवान् ऐसा नहीं कर सकता। आजकल ऐसी कई घटनायें भी पढ़ने को मिला करती हैं कि अमुक व्यक्ति ने अपने पूर्वजन्म की सटीक सप्रमाण बातें बताई । यदि पूर्वजन्म नहीं होता, यदि आत्मा का अस्तित्व शरीर से अलग नहीं होता, यदि सर्वोपरि न्यायकारी व्यापक भगवान् की व्यवस्था नहीं होती हो

सुख–दुःख में अन्तर नहीं पड़ता, मरने का भय नहीं सताता और इच्छा न होते हुए भी दुःख से जीव ग्रस्त नहीं होता। विविध प्रवृत्ति इस बात की घोषणा करती है कि जीव अपनी कई जन्मों की दौड़ में कहाँ तक पहुँच चुका है। कोई ज्ञान मार्गी होकर ज्ञानार्जन में मग्न होता है। कोई शासन मनोवृत्ति लेकर न्याय–परायणता का पोषक होता है। कोई अर्थशास्त्र प्रवीण होता है। कोई ज्ञान, बल, अर्थ–नीति सबसे हीन होकर केवल शारीरिक परिश्रम मात्र ही कर पाता है। कोई भी दो व्यक्ति समान स्वभाव के नहीं होते। फिर भी अनेक प्रवृत्तियों के समूह को केवल दो ही वर्गों में विभक्त कर सकते हैं जो परोपकार हेतु सर्वत्र अपनी यथा–शक्ति कार्यरत रहते हैं, सदा ऐसी चेष्टायें करते हैं कि सर्वत्र ही परोपकार–प्रवृत्ति की निरन्तर धारा प्रवाहित होती हुई जन–कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें जो पर–पीड़न हेतु सर्वत्र ही कुत्सित कर्म करते रहते हैं, सदा ऐसी चेष्टायें करते हैं कि सर्वत्र ही शोषण, उत्पीड़न, दमन, अशांति, असन्तोष इत्यादि मानवता बहिः कार्यों की निरन्तर धारा प्रवाहित होकर जन कल्याण की चिन्ता से दूर उनके लघु स्वार्थ की पूर्ति करते रहे। प्रथम प्रकार के लोग निवृत्त मार्ग के अनुगामी होते हैं और सदा सर्वत्र ही सब काम कर्त्तव्य कर्म समझकर करते हुए लोक–संग्रह की चेष्टा से आत्म–तुष्टि रहते हैं। मार्ग की बाधाओं से भयभीत नहीं होते और अपूर्व क्षमता से प्रगति–पथ के पथिक रहते हैं। द्वितीय प्रकार के लोग प्रवृत्ति–मार्ग के अनुगामी होते हैं और सदा सर्वत्र ही सब काम सकाम–भाव से करते हुए लोक–संग्रह की महोदय भावना से दूर सदा अशान्त रहते हैं। मार्ग की बाधाओं से भयभीत होकर सदा विचलित होते रहते हैं और सक्षमता से हीन अधोगति के गर्त में उत्तरोत्तर गिरते जाते हैं और तब तक गिरते हैं, जब तक कि सर्व विनाश नहीं हो जाता। कभी–कभी भाग्यशाली जीव पूर्ण विनाश से पूर्व ही चेत जाता है और प्रगति–पथ का राही बन जाता है। निवृत्ति मार्ग का पथिक भाग्य प्रदत्त भोगों का योग सहर्ष करता है और नित्य नूतन पवित्र कर्मों के सम्पूर्तीकरण में तन–मन–धन से तल्लीन भी रहता है। वह सुख में इठलाता नहीं और न दुःख में दीन बनकर कर्म–हीन ही बनता है। वह भट्टी में तपाये सोने की भाँति कठिनाइयों से और खरा उतरता है। प्रवृत्ति–मार्ग का अनुगामी भाग्य प्रदत्त भोगों का भोग जो सुख रूप होता है, उसको सहर्ष भोगता है, पर दुःख रूप फल के भोगने में बड़ा दीन तथा हीन परिलक्षित होता है। वह पुरुषार्थविहिन होकर दुःखों की भट्टी में खोटे सोने की भाँति पिघलकर अपना अस्तित्व ही खो बैठता है, वह अपना खरापन मिटा देता है, उसका खोटापन प्रकट हो जाता है, उसकी कमी का पर्दाफाश हो जाता है, यह कठिनाइयों में खोटा सोना सिद्ध होता है। प्रवृत्ति मार्ग का पथिक नित्य नूतन कार्यों के सम्पूर्तीकरण की क्षमता से दूर होता है। वह 'मीठा–मीठा गप्प तथा कड़ुवा–कड़ुवा थूं' की कहावत चरितार्थ करता है। निवृत्ति मार्गगामी सदा कर्मठ रहता है और उसके सामने यही आदर्श वाक्य याद रहता है– " तेरे फूलों से भी प्यार, तेरे कांटों से भी प्यार।" फलतः निवृत्ति – मार्गगामी कठिनाइयों को सहर्ष सहकर कर्म नदी को पार करके सुखी रहता है और प्रवृत्ति–मार्गगामी कठिनाइयों को अनिच्छा से सहकर कर्म की नदी में गोते खाता हुआ सदा दुःखी रहता है। सब प्रकार के गुणों से भरपूर काम को भी करके यदि आदमी कष्टों के थपेड़े खाता है, तो यह उसके पूर्व जन्म या इसी जन्म के पूर्व कृत कुकृत्यों के फल है। ऐसा सोचकर पुरुषार्थी काम करके आगे चलता जाता है और सुखी होता है। कई प्रकार के दोषों से युक्त कार्य को करते हुए भी यदि आदमी को सुख ही प्राप्त होता है, तो यह उसके पूर्व जन्म या इसी जन्म के

पूर्व कृत सुकृत्यों के फल हैं।

पाप–पुण्य के फलों में ऐसा क्रम क्यों ?

गलत या सही कामों के समय में अन्तर होता है, अतः उनके फल प्राप्ति के समय में भी अन्तर होना आवश्यक है। जीव नित नूतन काम करता जाता है और पिछले कर्मों के फल भी भोगता जाता है, किन्तु विचित्रता यह है कि श्रेयांसि बहुविघ्नानि–धर्म करने में ही कठिनाइयाँ आती हैं, यह क्यों ? इसका रहस्य यह है कि जिसकी जितनी मानसिक और आत्मिक उन्नति हुई रहती है, उसको उतनी ही कठिनाइयों के बीच चलने में भी कोई वस्तुतः आत्म–हानि नहीं होती, प्रत्युत आत्म–विकास ही होता है । वह कर्मवीर व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश से भरपूर होकर केवल कर्त्तव्य कर्म का ही पालन करता है, उसे किसी फल की इच्छा नहीं सताती, यदि फलेच्छा होती भी है, तो केवल कर्त्तव्य–कर्म को सुसम्पन्नता की। जिसकी मानसिक शक्ति अपूर्ण विकसित रहती है, आत्मिक बल कम होता है, उसको गलत काम की टेव पड़ी होती है, वह गलत काम प्रधान रूपेण करता है, पर यदा–कदा वह नेक–कर्म भी करता आया है, उसके फल को भी भोगता जाता है। मोटी निगाह वाले समझते हैं कि गलत काम करने से कोई हानि नहीं , फायदा ही है। अतः डरते नहीं। एक और प्रश्नान्तर होता है कि निवृत्ति मार्गगामी व्यक्ति को, जबकि वह प्रायः नेक ही काम करता आया है, उसको अच्छे काम करते रहने पर भी दुःख मिलता है, यह आश्चर्य की व्यवस्था क्यों ? यह इसलिए है कि निवृति–मार्गगामी व्यक्ति के भी पाप कर्म जो पूर्व हो चुके हैं, या इसी जन्म में हो चुके हैं, उनसे उसको मुक्ति दिलाने में कोई गड़बड़ी नहीं क्योंकि वह उनको सहकर भी पवित्र–कर्म से विचलित नहीं हो सकता। अतः पूर्ण रूपेण पवित्र बन सके, ऐसी व्यवस्था है। प्रवृत्तिमार्गगामी व्यक्ति अधकचरा होता है, वह कुकर्म करते हुए भी सुख ही प्रायः पा लेता है, उसका रहस्य यह है कि वह अपने कुकर्म की परमसीमा पर पहुँच कर तब उकताहट महसूस करे और निवृत्ति की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य हो, इसलिए ऐसी विचित्र व्यवस्था है। निवृत्ति मार्गगामी सुख–दुःख से परे होकर कर्मवीर होता है, कर्मठ होता है, कर्त्तव्य–कर्म–प्रेमी होता है, अतः संसार के प्राकृत–जन से ऊपर उठा हुआ असाधारण शक्ति सम्पन्न पूर्ण मानव होता है। प्रवृति–मार्ग–गामी सुख–दुःख के हिंडोले में झूलता हुआ पुण्य–पाप के चक्कर विशेष में पड़ा हुआ फल–वीर होता है, अवसर देखकर कर्म करता है, कर्त्तव्य–कर्म के प्रति दुकानदारी की भावना रखता है, अतः संसार प्राकृत जन के भीतर डूबा हुआ साधारण शक्ति वाला अपूर्ण मानव होता है। सदा पुण्य–कर्म–कर्त्ता व्यक्ति उत्तरोत्तर एकदम निष्काम–कर्म–कर्त्ता बनकर सदा आत्मवान् और जितेन्द्रिय बन जाता है। सदा पाप–कर्म–कर्त्ता व्यक्ति उत्तरोत्तर सकाम–कर्मकर्ता बनकर इन्द्रियदास एवं आत्मवत्ता से हीन होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि वह अपने कुकृत्यों से पश्चात्ताप न करे, तो क्या आश्चर्य है ? जैसे कबूतर बिल्ली से भयभीत होकर भय–मुक्ति–हेतु अपनी आँखें मूँद लेता है, फिर भी बिल्ली के हाथ से नहीं निकल पाता और नष्ट होता है, वैसे ही पापी व्यक्ति अपने कुकृत्यों के दुःख रूपी फलों की भयंकरता को भुलाने के लिए भीतरी आँखें फोड़ ले और ऊपर से अपने को निर्भीक प्रदर्शित करे, पर संसार के रंग–मंच पर ऐसा अवश्य समय आता है, जबकि उसके सर्वनाश की लीला जग–नेत्रों से छिपाई नहीं जा सकती। रावण पश्चात्ताप करके मरा। कंस

पश्चात्ताप करके मरा। हिटलर, मुसोलिनी एवं नैपोलियन इत्यादि जैसे लोग अपने कुकृत्यों के लिए पछतावा करते मरे। राम, युधिष्ठर, कृष्ण इत्यादि जैसे महामानव दु:ख–सुख सबमें समरस रहते हुए आज भी कोटि–कोटि हृदयों में स्थित होकर सत्प्रेरणा दे रहे हैं। वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द एवं गाँधी जैसे लोग भी कष्टों की परवाह न करके जन–मंगलाय पुण्य–कर्म करते हुए जीते रहे और जीवन के अन्तिम क्षण तक सदा भगवान को समक्ष रख कर लोक–हित की भावना से ही ओत–प्रोत रहे। मृत्यु का भी वैसे ही आलिंगन किया, जैसे राम–भरत–मिलन प्रसिद्ध है। बधिक और वेश्या, इत्यादि को क्या अपने कार्य से पूर्ण तृप्ति होती है ? क्या चोर, डाकू, व्यभिचारी, लुटेरों, धूर्तों, ठगों, प्रपञ्चियों, नशेबाजों इत्यादि को अपनी अशोभनीय चालों से सन्तोष होता है ? कदापि नहीं। आदत के शिकार ये लोग न चाहते हुए भी गलत काम कर जाते हैं। पर गलत काम जानते हुए भी उसको इसलिए नहीं छोड़ पाते कि वे भीतरी आँख के अन्धे होने से सत्सङ्गादि से दूर होते हैं। दण्ड पाते–पाते तब कहीं राहे रास्ते पर आने में सक्षम बनाये जाते हैं। पुण्यकर्मा व्यक्ति अपने बैरी के प्रति भी नेक काम करने से नहीं चूकता। आदत जो बन गई है। ऐसी बात है, तक न पापकर्मा के दु:साहस की प्रशंसा करें और न पुण्यकर्मा की सात्विक दया का अनादर। किसी भी परिस्थिति में पुण्य का समर्थन करना ही श्रेयस्कर है और सब प्रकार से पाप का विरोध करना ही सर्वदा हितकर है। पाप करना कागज की नाव पर चढ़कर समुद्र यात्रा करने की दुराशा करना है। पुण्य करना जहाज पर चढ़कर समुद्र–यात्रा पूर्ण करने का समारम्भ है।

संक्षेपतः विचार्यते

सब प्रकार की उल्टी चालें 'पाप' हैं, सब प्रकार की सरल चालें 'पुण्य' हैं। 'पाप' सब प्रकार से मारक है, 'पुण्य' सब प्रकार से तारक है। 'पाप' से सब प्रकार से बचा जाता है, 'पुण्य' से सब प्रकार से रक्षित हुआ जाता है। 'पाप' दुर्जनत्व का जनक, शान्ति का शत्रु, बन्धन–कारक एवं मुक्ति से दूर करता है। पुण्य सज्जनत्व का जनक, शान्ति का मित्र, स्वाधीनताकारक एवं उत्तरोत्तर मुक्ति के निकट लाने वाला है। किसी संस्कृत कवि की उक्ति सचमुच विचारणीय एवं ग्रहणीय है –

विश्वानि लोके दुरितानि नित्यं,
पापानि सन्त्येव न संशयोऽस्ति।
सर्वं हि लोके ननु भद्रकर्म,
पुण्यं भवत्येव तु वेद-गीतिः।।

वस्तुत: पाप की सीमा नहीं होती, वह टेढ़ा और अनेकश: होता है। पुण्य या भद्र मानवमात्र के लिए एक–रस सदा एक होता है, सर्व–सुलभ होकर सर्व–मंगलदायक होता है। वेदों में सर्वदा टेढ़ी चाल से, पाप–चाल से, अन्धकार से, मृत्यु से हटकर ऋजुचाल से, पुण्य चाल से, अमृत से पूर्ण होने की प्रार्थना पुन: पुन: की गई है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

सूर्य उपासना से कुष्टि निवृत्ति

श्री कृष्ण कुमार पांडे, गोरखपुर

सूर्य प्रत्यक्ष देवता है। " प्रत्यक्ष देवो दिवाकर : " सूर्य की महिमा धार्मिक ग्रन्थों में विभिन्न रूप में मिलता है। पद्म पुराण में सूर्य उपासना से कुष्टि का निवारण हुआ। समग्र सृष्टि सूर्य के साथ ही गतिमान हो जाती है। प्रकृति के समस्त जीव–जन्तु जंगम सब में सक्रियता आ जाती है। सूर्य अक्षय ऊर्जा का स्त्रोत है। यद्यपि सूर्य एक है लेकिन अपने विभिन्न रूपों में काल भेद से प्रत्येक मास में तपते हैं। बारह मासों में बारह प्रकार से अपनी आभा दिखाते हैं। चैत में भानु, वैशाख में तापन, ज्येष्ट में इन्द्र, आषाढ़ में रवि, श्रावण में गभस्ति, भाद्रपद में यम आश्विन में हिरण्यरेता, कार्तिक में दिवाकर, मार्गशीर्ष में मित्र, पौष में सनातन विष्णु, माघ में वरुण, फाल्गुन में सूर्य के रूप में यह प्रकाशित होते हैं। सूर्य प्रचण्ड रूप से प्रलय कालीन अग्नि के समान है। इनके बारह नाम प्रमुख हैं। आदित्य,सूर्य भास्कर अर्क, भानु, दिवाकर, सुवर्णरेता, मित्र, पूषा, त्वष्टा, स्वयंम्भू और तिमिरांश इन नामों का स्मरण कल्याणकारी माना गया है। साधकों के मन में यह जिज्ञासा होगी कि क्या यह अन्य युगों की तरह फलदायी होगा। यह शंका हम सब कलियुगी जीवों के मन में आ ही जाता है। गीता में भगवान ने कहा– " शंसयात्मा विनश्यति " अर्थात् जिसने भी संशय किया, वह अपने अभीष्ट को नहीं प्राप्त कर सकता है। परमात्मा हमें इतना अवश्य प्रदान कर देता है, जितने की हमें आवश्यकता होती है। तो फिर कामना किस अर्थों में किया जाए। कामना का मतलब संशय को बढ़ाना है। योगेश्वर भगवान कृष्ण ने हम सब को कर्म करने का उपदेश दिया है। कर्म भी फल की इच्छा से करने को नहीं कहा है। जब व्यक्ति अपने कर्म फल को भोगता है, तो कामना किस वस्तु की की जाए। हमारे सिद्धगुफा के बहुत से साधकों के अनुभव सुनने को मिला है। जिसमें उन्होंने बताया कि किस प्रकार स्वतः हमारे कार्य सद्गुरु की कृपा से सिद्ध हो गया। साधक ने बताया कि गुरुदेव भगवान योगी राज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का कार्यक्रम था। आर्थिक तंगी लग रही थी। लेकिन मन में यह भाव आया ही नहीं की आर्थिक तंगी से स्वाभाविक व्यवस्था हो गई। व्यवस्था हमने भी देखा था अद्भूत सब काम यथा समय बिना किसी परेशानी के सम्पन्न हो रहा था। वस्तुतः जब हम अपने को सद्गुरु तथा परमात्मा का चाकर समझेंगे तो सब काम वह परमात्मा अपने आप करा लेता है। पुराण में राजा भद्रेस्वर की कथा है। जो एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट थे। उनका जीवन तपोमय था। विभिन्न प्रकार के व्रत उपवास करते थे। प्रतिदिन देवता, ब्राह्मण, अतिथि और गुरुजनों का पूजन–सत्कार करते थे। प्रजा का पालन भी उसी विशेष भाव से करते थे। प्रजा अपने राजा के प्रति देवत्व भाव रखती थी । किन्तु कालान्तर में किसी कठिन कर्म विपाक के कारण उनके बायें हाथ में कुष्ट हो गया उसके निशान स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। राजा ने अपने राज्य के प्रमुख ब्राह्मणों को तथा मंत्री परिषद को बुलाकर मंत्रणा किया।

भद्रजनों किस पाप के कारण यह कुष्ट रूपी दु:ख हमें झेलना पड़ रहा है। मेरी इच्छा तो किसी पुण्य क्षेत्रमें जाकर शरीर त्याग की इच्छा हो रही है। आप लोग हमारे मन की शान्ति का सुझाव दें। सभा में मौजूद ब्राह्मणों ने कहा– राजन आप एक धर्मज्ञ राजा है। अपने प्रजा का पालन धर्म पूर्वक कर रहे हैं। आपके न होने से प्रजा स्वतः नष्ट हो जायेगी। इसलिए इस विचार को त्याग दिजिए। हम लोग इस रोग से निवृत्ति का उपाय जानते हैं। आप भगवान सूर्यनारायण की उपासना करिये। राजा ने पूछा– विप्रो उस आराधना की विधि क्या है। हे ब्राह्मण देव आप हमें उस विधि को बताइये। जिसका पालन कर इस रोग से मुक्त हो जाऊँ। ब्राह्मणों के बनाये गये नियमों के अनुसार राजा प्रतिदिन मंत्रपाठ, नैवेद्य, अर्घ्य, पाद्य, जपापुष्प, मदार के पत्ते, लाल चन्दन, कुकुम, कदली पत्र आदि सामग्री के द्वारा कठिन तपश्चर्या प्रारम्भ कर दिया। राजा गूलर के पात्र में अर्घ्य सजाकर सदा सूर्य देवता को निवेदन किया करते थे। अर्घ्य के समय सभी मंत्र वेन्ता ब्राह्मण तथा मंत्री परिषद के लोग सूर्य के समझ खड़े रहते थे। राजा के साथ अन्त:पुर की रानियाँ, रक्षक तथा उनकी पत्नियाँ, दास वर्ग तथा अन्य प्रजावर्ग भी राजा के साथ रहते थे। वे लोग भी राजा के साथ ही अर्घ्य देते थे। सूर्य देवता के अंगभूत जितने व्रत थे। उनका एकाग्रचित्त एवं श्रद्धा से अनुष्ठान करते थे। व्रत्त का अनुष्ठान क्रमश: एक वर्ष तक चलता रहा। जिसके परिणाम स्वरूप राजा का रोग समाप्त हो गया। राजा ने अपने प्रजा का पालन करते हुए, सूर्य देव के व्रत का पालन नित्य करने का व्रत लेकर कभी हविष्यान्न खाकर कभी निराहार रहकर करने लगे। तीनों वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब करने लगे। उनके व्रत अनुष्ठान एवं तपस्या से सूर्य देव प्रसन्न हो गये। एक दिन उन्होंने सबके समझ आकर बोले– राजन तुम्हारी उपासना से हम सन्तुष्ट हैं। तुम इच्छानुसार वरदान मुझसे मागों। भगवान भाष्कर को प्रसन्न जानकर राजा ने कहा– हे देव यदि आप हम सब पर प्रसन्न हैं तो हमें अपने पास रखकर सेवा का अवसर दें। सूर्य नारायण ने कहा– राजन,तुम्हारे मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण, स्त्रियाँ तथा अन्य परिवारीजन शुद्ध होकर कल्प पर्यन्त मेरे रमणीय धाम में निवास करें।

इतना कहकर सूर्य देव वही अन्तर्ध्यान हो गये। राजा भद्रेश्वर अपने पुखासियों के साथ सूर्य लोक के दिव्य धाम का आनंद प्राप्त कर सुखी से रहने लगे। इस तरह सूर्य की उपासना का फल राजा के साथ समस्त प्रजा को प्राप्त हुआ।

साधक साथियों गीता के विभूति पाद में भगवान कृष्ण ने अपने को ज्योतिषां रविरंशुमान कहा है। अर्थात् सूर्य में जो प्रकाश युक्त किरणें है। मैं वही हूँ। जहाँ कहीं भी प्रकाश का अंश है सबमें परमात्मा का ही रूप विद्यमान है। इसलिए गृहस्थों को सूर्य की उपासना निश्चय ही कल्याणकारी है। यह उपाख्यान हम सब में श्रद्धा एवं उत्साह को बढ़ाने वाला सिद्ध हो। ऐसी कामना सद्‌गुरु देव भगवान से है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

संस्कार शक्ति व साधना शक्ति

—कु. रुक्मिणी वर्मा, सहारनपुर

पूर्व प्रकरण में योग साधक का वैराग्य पल्लवित न होना तथा वैराग्य में बाधक संस्कार शक्ति का विक्षेप होना बताया गया था। संस्कार पूर्व जन्म की कर्मावस्था है, संस्कार कर्म के बाद की उत्पत्ति है, यह कर्म और फल के बीच की एक कड़ी है जिसे दार्शनिकों ने अदृष्ट की मान्यता दी है। अदृष्ट का नियामक ईश्वर है। अतः वह (परमात्म) अदृष्ट (संस्कार) के आधार पर फल का विधान करता है। संस्कार चित्त में सुरक्षित रहता है और फल भुगतान के साथ–साथ क्षीण होकर स्वयं नष्ट हो जाता है। संस्कार के कारण मानव का स्वभाव निर्मित होता है और अधिकांश नवीन कर्म चित्त में पड़े संस्कारों से प्रेरित होते हैं। अतः कर्म से संस्कार व संस्कार से कर्म की श्रृंखला चलती रहती है यदि संस्कार को काटने के लिए तत्सम्बन्धी निरुद्ध संस्कार उत्पन्न न किये जाये। काय संस्कार, मनः संस्कार तथा वाक् संस्कार ये तीन प्रकार के संस्कार दार्शनिकों को मान्य है तथा संस्कार दस प्रकार से प्रेरित होते हैं जिनका वर्णन भी पूर्व प्रकरण में किया गया था। महाराजा रणजीत सिंह के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया था कि किस प्रकार अन्य चित्त के संस्कार स्वयं के चित्त में प्रवेश करते हैं। अब आगे....

गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैशसन संस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते।।

चा. नीति दर्पण 16/6।।

अर्थात् मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों, सदाचार, शील और चरित्र द्वारा उत्तम होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। किसी बड़े भगवान के शिखर पर बैठने से ही कौआ गरुड़ नहीं हो जाता।

श्रेष्ठ मनुष्य के जो श्रेष्ठ लक्षण होते हैं, उसके स्वभाव व व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं और मनुष्य का व्यवहार उसके संस्कारों से प्रेरित होता है क्योंकि किये गये कर्मों के संस्कार चित्त में सुप्त अवस्था में सोये रहते हैं और जब–जब हम जैसे–जैसे वातावरण में रहते हैं, तब–तब वैसे–वैसे संस्कार जाग उठते हैं। इसीलिए अच्छी संगति में रहने और बुरी संगति से बचने की राय हमारे आर्य धर्म ग्रन्थ देते हैं। क्योंकि हम जैसी संगति व वातावरण में रहते हैं उसका हमारे अन्तर्मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि मन की गहराई में जो संस्कार दबे हुए होते हैं वे प्रकट हो जाते हैं। इसलिए पुराने संस्कार उभर कर हमारा वर्तमान न बिगाड़ें इसके लिए जरूरी है कि बुरी संगति न ही करें, दूषित वातावरण से परहेज करें क्योंकि–

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्। *(हितोपदेश)*

नीति में कहा गया है कि कीचड़ में पैर डालकर फिर उसे धोने से अच्छा है पैर कीचड़ में डाला ही ना जाये। च्तमअमदजपवद पे इमजजमत जींद बनतमए अर्थात् इलाज कराने से रोग का बचाव करना अधिक उत्तम है।

अतः हमें जन्म से ही अच्छे संस्कार अपने अन्दर विकसित कर लेने चाहिये। परन्तु जैसे कि पूर्व प्रकाशित अंक में बताया गया था कि मनुष्य के संस्कार दस प्रकार से विकसित होकर सामने आते हैं और उसमें पहला संस्कार है गर्भ का संस्कार। कोई भी बच्चा गर्भ में स्वतन्त्र नहीं होता। अतः वह उस समय कर्म नहीं कर सकता। इसलिए उसकी माता के द्वारा किये कर्म जनित संस्कार उसे धरोहर रूप में मिलते हैं। जैसा माता–पिता का कर्म व्यवहार होता है उसकी अमिट छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। पिता की वह धातु तत्व जिसमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति होती है उस एक शुक्राणु में एक बच्चे के शरीर को जन्म देने की क्षमता होती है। अर्थात् प्रत्येक शुक्राणु एक शरीर ही है भले ही बीज रूप में है। इस बी में पूरा व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। जिस प्रकार आम की गुठली को बीच से खोलकर देखा जाये तो उसमें न कोई जड़ है, न तना, पत्तियाँ, फूल–फल आदि। यदि आम की गुठली को उचित खाद–मिट्टी में बोया जाये तो पूरा वृक्ष फल–फूलकर तैयार हो जाता है। अब सोचने की बात है कि उस बीज (गुठली) में से आम का वृक्ष कहाँ से आया? एक वृक्ष, उसकी जड़, पत्ती, फूल व फल की सम्पूर्ण ताकत अथवा गुण उसके बीज में अदृश्य रूप से विद्यमान रहते हैं। जब बीज यथाविधि उचित संरक्षण व भोज्य प्राप्त करता है तो एक वृक्ष अपने अन्दर से प्रकट कर स्थूल रूप में प्रकृति में दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार एक शुक्राणु एक शरीर (मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि) प्रकट करता है। अतः जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसके चित्त में पिता–माता का चित्त व गुण–धर्म स्वाभाविक ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसा कि कहा भी गया है, ''माँ पर धी (पुत्री), पिता पर घोड़ा (पुत्र) ज्यादा नहीं तो थोड़ा–थोड़ा।'' अतः यह बात पूर्णतया सत्य है कि बच्चे के गुण दोषों में उसके माता–पिता के गुण दोष भी निहित होते हैं। केवल यह बात माता–पिता तक ही सीमित नहीं, दादा–दादी, परदादा–परदादी तथा इससे आगे के पूर्वजों के गुण–दोष वर्तमान जन्मजात सन्तान में पाये जाते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म में जब विवाह होता है तो वर पक्ष व वधु पक्ष के माता–पिता एक दूसरे के खानदान (कुल) की परख कर लेते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि जो वधु इस कुल में आयेगी उसके द्वारा उत्पन्न हुई सन्तान में इस प्रकार के दोष न आ जायें जो कुल घातक या समाज में विद्रोह पैदा करने वाले अथवा राक्षसी प्रवृत्ति से युक्त हों। दोष युक्त सन्तान कुल–परिवार की शांति भंग करने में तथा कुल को नीचा दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ती। अतः खानदान की परख एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। इस विषय में एक दन्तकथा मुझे स्मरण हो रही है, जिसके द्वारा इस विषय को समझने में सरलता होगी।

एक सेठ जी के यहाँ चार पुत्र थे। सेठ जी बहुत धनाढ्य थे उन्होंने परिश्रम करके अपार सम्पत्ति हासिल की थी। तीन पुत्रों की शादी सेठ जी ने उच्च खानदान देखकर कर दी परन्तु चौथे पुत्र को किसी युवती से प्रेम हो गया। जब–जब सेठजी विवाह की बात चलाते तो कनिष्ठ

पुत्र इन्कार कर देता। काफी कहने–सुनने के बाद पुत्र ने कहा कि यदि मेरी शादी होगी तो अमुक लड़की से अन्यथा नहीं। जब सेठजी ने उस कन्या का पूरा पता ले लिया तो उसके खानदान के विषय में खोज की। खोज करने पर पता चला कि कन्या की नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। सेठजी ने कहा कि हम तुम्हारी शादी उस घर में नहीं कर सकते क्योंकि उनके खानदान में दोष है। लड़के ने पूछा कि क्या दोष है?पिताजी ने उत्तर दिया कि उस लड़की की नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। पुत्र ने कहा कि हे पिता नानी की बात नानी के साथ थी। मैंने इस लड़की को खूब परख लिया, इसमें तो कोई दोष नहीं है। अत: विवाह करूँगा तो इसी लड़की से अन्यथा अविवाहित ही रहूँगा। पिता भी जिद् पर अड़ गये और पुत्र भी। परन्तु होनहार बलवान है, वह लड़का प्रेम रोग से पीड़ित होकर बीमार रहने लगा। इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ। दिनों–दिन चेहरा पीला पड़ता गया। आखिर में पिता को निर्णय बदलना पड़ा और पुत्र की शादी उसी लड़की से करनी पड़ी। पाँच–छः वर्ष आराम से गुजरे परन्तु शनैः– शनैः सेठजी को व्यापार में घाटा पड़ने लगा। जब सेठजी ने देखा कि जमा पूँजी भी निपटती जा रही है तो चारों पुत्रों को बुलाकर सलाह ली कि क्यूँ न हम दूसरा व्यापार शुरू कर दें अभी तो दुकान भी अपनी है व गहने आदि भी हैं। यदि हम सब सोना बेचकर उस पूँजी को व्यापार में लगा दें तो कर्ज भी लेने से बच जायेंगे। व्यापार चमकेगा तो सबसे पहले सोना ही खरीद देंगे। चारों पुत्रों ने एक स्वर में कहा कि हे पिता अब यही एक उपाय है। आपकी राय बिलकुल ठीक है, आखिर घर में गहना रखा हुआ दूध थोड़े ही दे रहा है। काम ठीक हो जाये तो सोना ही सोना। पिता ने कहा कि ठीक है, तुम चारों अपनी–अपनी पत्नी से गहने लाओ। चारों पुत्र अपनी–अपनी बीवी से व्यापार की बात बताकर गहने माँगने लगे। सेठजी की बड़ी तीन पुत्र वधुओं ने खुशी–खुशी गहने दे दिये तथा कहा कि मुसीबत के समय ही तो ये सब काम आते हैं, आप व्यापार ठीक कर लीजिये, गहने बने या न बने। आप सबकी खुशी ही हमारा गहना है। सिर पर कर्ज न होना सबसे बड़ा गहना है और पति का खुश रहना तो सबसे अनमोल गहना है। परन्तु चौथी व कनिष्ठ पुत्रवधु ने साफ इन्कार कर दिया कि व्यापार क्या मेरे ही गहनों से चलेगा। मेरी माँ ने बचपन से मेरे लिए चीजें (जेवरात) बनवा कर रखी थी, अत: मैं अपने गहने बिल्कुल नहीं दूँगी। पति ने समझाया कि भाग्यवान व्यापार चमकते ही मैं तुम्हें दो गुना सोना ले दूँगा। पत्नी ने कहा कि इतना बड़ा व्यापार जब घाटे में आ गया तो क्या भरोसा नया व्सापार चले ना चले और मैं गहनों से से भी खाली हो जाऊँ। अतः मैं अपने जेवरात किसी कीमत पर नहीं दूँगी। पति ने कहा कि मेरे अन्य भाई तो पिता के पास जेवरात ले भी गये। तुम नहीं दोगी तो मेरी नाक कट जायेगी। पत्नी ने कहा कि नाट कटे या रहे परन्तु मैं जेवरात नहीं दूँगी। इस बात पर पति ने कड़ा रुख किया तो पत्नी तपाक से बोली, ज्यादा तीन–पाँच करोगे तो कुएँ में डूबकर मर जाऊँगी पर गहने नहीं दूँगी। पति की आँखें कुएँ में डूबकर मरने वाली बात पर फटी की फटी रह गयी और रह–रहकर पिता की वही बात दिमाग पर आघात करने लगी कि उसकी नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। कहीं सचमुच ही कुएँ में डूब कर मर ना जाये, अत: मुँह लटकाये पिता के चरणों में गिरकर रोने लगा। पिता ने पूछा कि क्या बात है बेटा! तुम तो घर गये थे गहने लेने के लिए। क्या जेवरात खो गये हैं?पुत्र

ने लज्जा से सिर झुकाकर सारी बात बता दी और कहा कि पिताजी आपकी बात न मानकर मैंने अपराध किया है। जो दोष युक्त खानदान से नाता जोड़ा और वही दोष इस घर में लाया हूँ। पिता ने कहा कि अब कुछ नहीं किया जा सकता। बड़े बुजुर्ग की हर बात में कीमती अनुभव छिपे रहते हैं जो नहीं मानता एक दिन उपहास का पात्र बनता है।

अतः मानव नहीं जानता कि स्वयं अपराध करके वह आने वाली पीढ़ी को अपराध करने की प्रवृत्ति कितने सहज तरीके से दे देता है। अतः मनुष्य में बहुत से गुण–दोष मात्र जन्म लेने के कारण आते हैं। अस्तु हममें से प्रत्येक मानव का धर्म बनता है कि किसी भी प्रकार अपने व्यवहार व क्रियाओं को साधे रखें। बहुत से व्यक्ति ज्ञान तो रखते हैं परन्तु व्यवहार में ज्ञान को नहीं लाते। अतः इस प्रकार के व्यक्ति दुर्योधन के भाई ही हैं। दुर्योधन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

जानामि धर्मम् न च में प्रवृत्तिः, जानामि अधर्मम् न च मे निवृत्तिः।

–महाभारत

मैं धर्म की परिभाषा जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं अर्थात् धर्म को व्यवहार में लाने की आदत नहीं। मैं अधर्म को भी जानता हूँ कि क्या करना गलत है, परन्तु अधर्म से मेरा छुटकारा नहीं क्योंकि मेरा व्यवहार परिपक्व हो चुका है। अतः नियम, कानून व ज्ञान का जानना क्षमा के लिए दलील नहीं होता। प्हदवतंदबम व िसं पे दव मगबनेमए कानून का न जानना भी माफी के लिए पर्याप्त नहीं। जो भी व्यक्ति जाने–अनजाने अधर्म का व्यवहार करेगा उसे सजा तो भुगतनी ही पड़ेगी। जिन माता–पिता को बच्चों के गलत कदमों की शिकायत है, वे स्वयं के कहीं न कहीं दोष की भी परीक्षा कर लें। कुल मिलाकर निष्कर्ष इस बात पर निकलता है कि यदि किसी व्यक्ति के संस्कार खराब हैं तो उसके व्यवहार में कई व्यक्तियों के संस्कार निहित रहने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः जो भी व्यक्ति अपना भला चाहता है, उसे योग साधनारत् रहकर हर दिशा में हर विषय पर अपने चित्त में संयम लाना ही होगा ताकि गलत संस्कारों का आवेग कमजोर पड़कर फल–भोग की स्थिति से बचा जा सके। चरक संहिता में निर्देश दिया गया है कि–

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्यचेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्।।

चरक संहिता 7/26

अर्थात् इस जीवन में अपना भला चाहने वाले व्यक्ति को निषिद्ध, दुस्साहस वाले तथा मन वाणी और शरीर के निन्दित कर्मों के वेग को रोकना चाहिये। जो व्यक्ति संयम न बरतकर निन्दित कर्म करता है तो समझना चाहिये कि उसके मस्तिष्क की छाप अन्य मानस पटलों पर भी पड़ेगी। इसलिए बुरे संग से बचने की हिदायत हर ग्रन्थ देता है। अतः साहस, धैर्य और विवेक से काम लेकर नीति पर डटे रहने का अभ्यास परिपक्व कर लेना चाहिये ताकि ऐसे संस्कार के फलोदित समय को टालने में सफलता मिल सके जो संस्कार निजकृत कर्मों से सम्बन्धित नहीं थे। अन्यथा मनुष्य सारी उम्र निज सुधार व साधना में बिता देता है। फिर भी संस्कार चक्र में बार–बार उलझकर सारे कर्म भी बिगाड़ लेता है और साधना भी

एक ही जगह ठहर सी जाती है, विकास नहीं हो पाता। संस्कारों का धरोहर में मिलना उत्थान व पतन दोनों का ही कारण बन सकता है। उच्च कुल व उच्च संस्कृति वाले परिवार में जन्म लेना ईश्वर की अनुकम्पा है और यह अनुकम्पा वह साधक भक्तों पर करता है।

संस्कारों का प्रभाव मानव समाज पर ही नहीं पशु समाज में भी महत्त्व रखता है। इस बात को भी एक दंतकथा द्वारा समझा जा सकता है। एक राजा के केवल एक पुत्र था। राजा ने उस पुत्र को बड़े लाड़–चाव से पाला। जब राजकुमार बड़ा हुआ तो राजदरबार में बैठने लगा। राजकुमार काफी विधाओं में निपुण था। घुड़सवारी में सबसे तेज था। एक दिन राजकुमार ने अपने पिता से कहा कि वह सबसे उत्तम घोड़ा खरीदना चाहता है। अतः दरबार में उत्तम से उत्तम घोड़े मँगवाए जायें ताकि वह अपने मनपसन्द घोड़े का चुनाव कर सके। राजाज्ञा से दरबार में दूर–दूर से घोड़े मँगवाए गए। अन्त में एक घोड़ा राजकुमार ने पसन्द कर लिया परन्तु मंत्रीजी ने उस घोड़े को खरीदने से मना कर दिया। जब भी घोड़े लाये जाते थे, मंत्रीजी उस घोड़े के पूरे खानदान के विषय में जानकारी प्राप्त करते थे। जब राजकुमार ने पूछा कि एक ही घोड़ा लाखों घोड़ों में मैंने पसन्द किया है और उसे ही आप मना कर रहे हैं, आखिर क्यों?मंत्रीजी ने कहा कि प्राप्त जानकारी के अनुसार इस घोड़े की माँ का स्वभाव ऐसा था कि वह पानी को देखकर डर जाती थी। इस पर राजकुमार हँसने लगा कि माँ का दोष इस घोड़े पर क्यों आरोपित कर रहे हो?पानी मँगवाया गया, जिसे देखकर घोड़ा डरा ही नहीं। अतः मंत्री जी की बात पर ध्यान नहीं दिया गया और घोड़ा खरीद लिया गया। राजकुमार सुबह–शाम घुड़सवारी करता और विशेष सेवकों द्वारा घोड़े की देखरेख की जाती। एक दिन शिकार को गया राजकुमार रास्ता भटककर दूसरे देश में जा पहुँचा। उस देश के राजा की राजकुमार के पिता से कड़ी शत्रुता थी। अतः राजकुमार अपने आप को छिपाने की कोशिश में इधर–उधर घूम रहा था कि राजकुमारी से उसकी भेंट हुई दोनों का रोज बाग में मिलन होने लगा और प्रेम इस सीमा पर पहुँच गया कि दोनों ने विवाह करने का निर्णय कर लिया। परन्तु दोनों के पिता एक दूसरे के शत्रु थे। अतः विवाह को मन्जूरी मिलना सम्भव नहीं था। राजकुमारी ने सलाह दी कि तुम आधी रात में मेरे महल के पीछे ठहरना, मैं चुपके से ऊपर से तुम्हारे घोड़े पर कूद पड़ूँगी और तुम तुरन्त मुझे घोड़े पर बैठाकर अपने देश की सीमा की ओर बढ़ जाना। ऐसा ही हुआ परन्तु गुप्तचरों ने राजकुमारी को आधी रात के समय घोड़े पर जाते देखा तो पीछे राजा की सेना उन्हें पकड़ने के लिए लगा दी और एक गुप्तचर ने राजा को जगाकर इस घटना की सूचना दी। राजा ने तुरन्त तीव्रगामी घोड़ा लिया और सेना लेकर उसी दिशा में गया। इधर राजकुमार शत्रु के भय से घोड़े को तेज दौड़ाये जा रहा था।

मार्ग का सही ज्ञान नहीं था। चलते–चलते रास्ते में नदी पड़ी। पानी को देखकर घोड़ा थम गया। राजकुमार ने लाख कोशिश की परन्तु घोड़ा वहीं बिदकता रहा, आगे नहीं बढ़ सका। इतने में राजा के दूत, सिपाही तथा थोड़ी देर में राजा और उसकी सेना भी वहाँ पहुँच गयी। जब राजकुमार को गिरफ्तार किया जाने लगा तो राजकुमार ने अपनी म्यान में से तलवार निकाली और घोड़े का सिर काट दिया। इस पर राजा ने पूछा कि मेरी बेटी को

भगाकर ले जाने का दोष तुम्हारा था और तुमने घोड़े को दण्ड दिया, ऐसा क्यों?राजकुमार ने कहा कि हे राजन मैं अपने कार्य में पूर्णतया सफल होता परन्तु इस घोड़े ने मुझे धोखा दिया। इसे खरीदते समय हमारे राजमंत्री ने परामर्श दिया था कि इस घोड़े की माँ पानी देखकर डरती थी, अतः इसे न खरीदा जाये। परन्तु मैंने जिद् करके इसे खरीद लिया आज मुसीबत के समय भी इसका दोष न हट सका और मैं नदी पार करने से वंचित रहकर आपके आधीन हूँ। आज मैंने इसे खत्म करके इसके खानदान को नष्ट किया है क्योंकि यह भी इसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न करता और इसकी सन्तान में यह दोष आता। इतना सुनकर राजा ने युवक को क्षमा कर दिया। परन्तु सबके सामने राजकुमारी की गर्दन धड़ से अलग कर दी। राजकुमार ने कहा कि तुमने ऐसा क्यों किया?राजा ने कहा कि हे राजकुमार इस राजकुमारी की माता भी मेरे साथ भागकर आयी थी। और आज यह भी राजमहल से भागकर जा रही थी। कल यह भी ऐसी सन्तान उत्पन्न करती और उस सन्तान में भी ऐसा दोष आता। अतः मैंने इस दोष की जड़ आगे बढ़ने से रोक दी। ना होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि पशु के गुण–धर्म–स्वभाव भी मानव समाज की तरह भावी पीढ़ी के अन्दर सहज ही प्रवेश कर जाते हैं। अतः हमारा स्वभाव–व्यवहार परिपक्व व नीतियुक्त होना चाहिये। आचार संहिताओं की रचना भी इसी उद्देश्य को लेकर की गयी है जिससे उन्हें पढ़कर, समझकर व उन पर चलकर उत्तम व्यक्तित्व को धारण करके भावी समाज की नींव सुदृढ़ की जा सके। अतः सद्वृत्तों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बनता है। सद्वृत्तों की साधना सबसे बड़ी साधना है। यम, नियम का पालन ही सद्वृत्त है। एक सद्वृत्त का पालन करने से ही आरोग्य एवं इन्द्रियों पर विजय दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं।

अतः संस्कार चक्र को काटने के लिए साधना की शक्ति को बढ़ाना होगा ताकि तपोबल के आगे भुगतान में आने वाले संस्कार दुर्बल पड़ जायें और उनका प्रभाव न पड़ सके। साधना में सफलता मिलेगी या नहीं, साधना हो भी पायेगी या नहीं ऐसा सोचकर मन की शक्ति को बाह्य परिवेश के नीचे न दबने दें। वैदिक ऋषियों ने कहा है–चरैवेति, चरैवति। अर्थात् चलते रहो, चलते रहो। जो मंजिल की ओर चलता रहता है वह एक न एक दिन पहुँच ही जाता है। प्रयन्त में शिथिलता न आये तो सफलता मिल ही जाती है। यथा– Try & Try again, you will succeed at last. एक अंग्रेजी विद्वान डा. नारमॅन मेकलियड् ने बहुत कीमती बात कही है, जिसे जीवन का आदर्श बनाकर आजीवन इस पर अमल करना ही चाहिये–

Let the road be rough & dreary end its and for out of sight
Foot it brave, strong & weary Trust in God & do the right."

अर्थात् भले ही मार्ग खराब और खतरनाक हो, इस मार्ग का अन्त बहुत दूर और न दिखाई देने वाला हो, आप में बल हो या आप थके हों फिर भी आप साहसपूर्वक बढ़ते जाइये, ईश्वर पर भरोसा रखिये और जो ठीक हो वह कार्य करते जाइये। आप देर–सवेर अपना लक्ष्य निश्चित ही प्राप्त कर लोगे।

मोक्ष के द्वार पर निवास करने वाले चार द्वारपाल बतलाये गये है- शम, विचार, संतोष और साधु-संग। इन चारों की भली भाँति सेवा की जाती है तो यह मोक्षरूपी राजप्रसाद का द्वारा खोल देते हैं।

-योगवासिष्ठ से

केवल कह देने से मनुष्य ' पुण्यात्मा बन जाते हैं न पापी। किन्तु वे तुम्हारे कर्म हैं, जिन्हें तुम अपने साथ लिखते जाते हो, तुम्हारे कर्म तुम्हारे साथ साथ जाते हैं।

यदि सच्चे नाम की भूख लग जाए तो खाकर तृप्त हो जाने पर भूखे की व्याकुलता चली जाती है। फिर कैसे उसके नाम को भुला दिया जाए।

- नानकदेव

सद्गुरु वही है जो शिष्य के अज्ञानान्धकार को अपने निर्मल स्वप्रकाश ज्ञान की विमल ज्योति से हरते। और शिष्य वही है जो विनय तथा सेवा परायण होकर ज्ञानी गुरु से प्रश्न करे और उनके आज्ञानुसार अपना जीवन निर्माण करे।

- श्रुतिसार

• • •

SIDDHYOG Postal Regd. No.: OAG - 19/24-26 MAY 2024

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________

यस्य श्रद्धा पवित्रोऽसौ स्वभावाद्यत्र तिष्ठति
तत्र देवगणाः सर्वे क्षेत्रपीठे वसन्ति ह

इस गीता पर स्वभाव से ही जिसकी श्रद्धा है वह पवित्र है जहाँ वह रहता है उस क्षेत्रपीठ में सब देवगण रहते हैं।

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा